विष्णु भगवान का भृगु मुनि के साथ सहनशीलता।

श्री भागवत-दर्शन ::-

भागवती कथा

(इक्यावनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

संशोधित मूल्य ७ ० का

द्वितीय संस्करण]   आश्विन २०२८   [मूल्य—१.६५
१००० प्रति]   सितम्बर १९७१

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

भगवान् वासुदेव के दर्शनों को मुनियों का आगमन

[११७६]

इति सम्भाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।
आययुर्मुनयस्तत्र कृष्णरामादिदृक्षया ।।*
(श्री भा० १० स्क० ८४ अ० २ श्लोक)

छप्पय

इत बाहर हरि दरश हेतु मुनिवर बहु आये।
करि स्वागत सतकार कनक आसननि बिठाये ॥
पुनि पुनि करी प्रनाम जोरि कर बोले श्रीहरि।
आज धन्य हम भये दये शुभ दरश दया करि ॥
जप, तप, तीरथ, व्रत सतत, सेवन तैं पावन करें।
किन्तु संत दरशन निही, तैं सब दुख दारिद टरें ॥

कोई शरीर में सुगन्धित तैल फुलेल लगाकर कहीं जाता है तो वह जहाँ से भी निकलता है वहीं सुगन्धि फैल जाती। इसके विपरीत जो दुर्गन्ध युक्त वस्तु लगाकर निकलता है, उसके आस पास दुर्गन्धि बनी रहती है। यह तो बाहरी सुगन्धि दुर्गन्धि को

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! इस प्रकार जब भीतर स्त्रियों से स्त्रियाँ बातें कर रही थीं और पुरुषों से पुरुष, उसी समय भगवान राम और कृष्ण के दर्शनों की इच्छा से बहुत से मुनि वहाँ आये।"

दशा है। यही बात भीतर उदर की है, जिनके उदर में भीतर दुर्गन्धयुक्त मल भरा रहता है, उनकी अपानवायु अत्यन्त दुर्गन्धपूर्ण होती है। आस-पास के लोगों का चित्त बिगड़ जाता है। यही दशा भाव और विचारों के सम्बन्ध में है। जो सदा राग, द्वेष, वैर, हिंसा तथा पाप की बात सोचते रहते हैं, ऐसे दुर्जन, असन्त पुरुष जहाँ भी जायँगे, सब को उद्वेग पहुँचायेंगे, उनके जाने से भय, आशंका, अविश्वास तथा और भी अनेक प्रकार के भाव अपने आप उठने लगेंगे। इसके विपरीत जो सदा सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, शम, दम आदि सद्गुणों के सम्बन्ध में विचार करते रहते हैं, समस्त सद्गुणों के एकमात्र स्थान श्री भगवान् का ही चिन्तन करते रहते हैं, उनके आने से ही हृदय में स्वतः ही प्रसन्नता, उत्साह और श्रद्धा आदि सद्गुण उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि सत असत जहाँ भी जाते हैं अपने भावों को साथ ही ले जाते हैं। यह जगत् भावमय ही है। द्यूत स्थान में, वेश्याओं के यहाँ जाइये वैसे ही भाव उत्पन्न होंगे। क्योंकि वहाँ जो आते हैं ऐसे ही विचार के लोग आते हैं, वे अपने भावों को संग लाते हैं और उनकी दुर्गन्ध वायुमंडल में फैलाकर चले जाते हैं। इसके विपरीत किसी संत महात्मा के आश्रम पर जाइये। महापुरुषों के रहने के स्थानों में, पवित्र सरिताओं के तट पर, प्राचीन तीर्थों में जाते ही चित्त में एक प्रकार की अव्यक्त शान्ति का स्वतः ही अनुभव होने लगेगा। संत जिस स्थान में रहेंगे वह स्थान तीर्थ बन जायगा, जिस वृक्ष के नीचे बैठेंगे, वह वृक्ष विशुद्ध बन जायगा, जिसे वे स्पर्श कर देंगे वह निष्पाप हो जायगा, संत पारस के समान हैं, वे लोहे को तत्काल सुवर्ण बना देते हैं। मनुष्य तीर्थों में भटकते हैं, व्रत उपवास करते हैं, इन सबका एकमात्र फल है संत दरश। इस संसार रूपी भवाटवी में भटकते-भटकते यदि जीव को कहीं संत दर्शन हो जायँ तो

समझो अब उसके संसार बन्धन के कटने के दिन आ गये। अब उसे अधिक भवसागर में भटकना न पड़ेगा। सन्त में और भगवन्त में कोई अन्तर नहीं। दोनों एक ही हैं। यही नहीं सत भगवन्त से भी बड़े हैं। राम से अधिक राम के दास हैं। तभी तो सर्वान्तर्यामी श्री हरि ने संतों की महिमा स्वय अपने श्री मुख से बखान की है।

सूतजी कहते हैं "मुनियो! इधर भीतर कौरव कुल की स्त्रियाँ और यादवों की स्त्रियाँ परस्पर में तीनो लोकों को पवित्र करने वाला कृष्ण कथा कह रहीं थीं, उधर बाहर भगवान् पाडवों तथा अन्यान्य राजाओं से वात कर रहे थे। सहसा उसी समय दूर से उन लोगों को बहुत से ऋषि मुनि आते हुए दिखायी दिये, बात यह थी, बहुत से कल्पजीवी ऋषि महर्षि भी ग्रहण स्नान करने आये थे। उनमें से कुछ तो स्थूल देह से पैदल चलकर आये थे। कुछ आकाश मार्ग से उड़कर आये थे, कुछ सूक्ष्म शरीर से संकल्प द्वारा ही प्रकट हो गये थे। जब समस्त ऋषि मुनियों का समाज एकत्रित हुआ, तब यह चर्चा चली कि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा नर रूप से अवतार्ण होकर यहाँ पधारे हैं। साथ मे सकर्षणावतार भगवान् बलदेवजी भी हैं, तो सबकी इच्छा हुई सब एकत्रित होकर चलें और भगवान् राम-कृष्ण के दर्शन करके जीवन को सार्थक बनावें। भगवान् के दर्शन हो जायँ तो मानो तीर्थ का फल प्रत्यक्ष मिल जाये, यही सब सोच विचारकर समस्त ऋषि मुनि श्री बलरामजी और श्रीकृष्ण-चन्द्रजी के दर्शनों की लालसा से चले। ऋषि मुनि तो बहुत थे, किन्तु इनमे ये प्रधान थे। जैसे भगवान् वेदव्यास, देवर्षि नारद, भरद्वाज, गौतम, भगवान् परशुरामजी, उनके अकृतव्रण आदि बहुत से शिष्य, वसिष्ठ, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, सनक, सनन्दन, सनातन, सनतकुमार, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य

तथा वामदेव आदि और भी बहुत से ऋषि मुनि थे।

यादवों की सभा लगी हुई थी, उसमें वसुदेवजी, भग न श्री कृष्णचन्द्र, श्री बलरामजी, धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा और भी बहुत से राजा बैठे हुए थे। झुन्ड के झुन्ड मुनियों को आते देखकर सहसा सब ही अपने अपने आसनों के उठकर खड़े हो गये। सबने श्रद्धा भक्ति सहित सभी मुनियों के पादपद्मों में प्रणाम किया। सबने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए "स्वागतम् स्वगतम्" "जय जय नमोनमः" आदि शब्द कहकर उन सब मुनियों का स्वागत किया। उन्हें सुन्दर सुन्दर आसनों पर बिठाया। पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, माला, चन्दन धूप, दीप आदि पूजन की सामग्रियों से उनकी पूजा की। राजाओं के साथ राम और कृष्ण दोनों भाइयों ने भी विश्ववन्दित मुनियों का पूजन किया।

पूजन के अनन्तर सब राजागण चुपचाप अपने अपने आसनों पर बैठ गये। सभा में स्तब्धता छायी हुई थी, सब मौन थे, उस स्तब्धता को भग करते हुए धर्मरक्षक नरनाट्य करने वाले नटवर बोले—"आज हम अपने भाग्य की कैसे बड़ाई करें। आज हम कृतार्थ हो गये, आज हमारा मनुष्य जन्म लेना सफल हो गया, आज हमें समस्त पुण्य कर्मों का फल एक साथ ही मिल गया, जो आज हमें आप बड़े-बड़े योगेश्वरों का दर्शन प्राप्त हो गया। आपका दर्शन साधारण पुण्य वाले मनुष्यों को प्राप्त नहीं होता। मनुष्यों की बात तो पृथक् रही, देवताओं को भी आपके दर्शन दुर्लभ हैं। जो लोग पापी नहीं हैं, जिन्होंने तपस्या भी की है, किन्तु स्वल्प तपस्या की है। जो भगवान् को सर्वव्यापक न मानकर केवल प्रतिमा में ही उन्हें सीमित मानते हैं, प्रतिमा के अतिरिक्त वे आपकी चलमूर्ति में ईश्वर बुद्धि नहीं रखते, ऐसे पुरुषों को भी आपके दर्शन नहीं हो सकते फिर

कुशल प्रश्न, चरणस्पर्श, प्रणाम, पादपूजनादि का सुअवसर प्राप्त होना तो अत्यन्त ही दुर्लभ है। हमने कल ग्रहण स्नान किया, किन्तु सकल तीर्थों का फल तो आज ही प्राप्त हुआ।"

यह सुनकर नारदजी बोले—"तो क्या भगवन्! ये गंगादि तीर्थ, तीर्थ नहीं हैं? ये जो मिट्टी के शिवलिङ्ग आदि देवता बनाते हैं या पाषाण की प्रतिमा पूजते हैं ये फल नहीं देतीं?"

भगवान् ने कहा—"गंगादि नदियाँ, पुष्कर, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थ, तीर्थ नहीं हैं सो बात नहीं है। मृण्मय, पाषाण, काष्ठ, चित्र अथवा धातुमय मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा करके जो देवबुद्धि से पूजन करते हैं, उनमें देवत्व नहीं है, यह बात भी नहीं। इसमें देवत्व है। तीर्थों में, स्नान आदि से, देवताओं के अर्चन पूजन से कुछ फल प्राप्त न होता हो सो भी बात नहीं है। इनके सेवन पूजन से फल मिलता है, अवश्य मिलता है, किन्तु तीर्थादि तो चिरकाल तक सेवन करने से फल देते हैं। किन्तु संत दर्शन ऐसा उत्कृष्ट तीर्थ है, कि यह दर्शन होते ही तुरन्त फल देता है। इसमें उधार का व्यवहार नहीं तुरत दान महा कल्यान, इस हाथ दो उस हाथ लो। साधु दर्शन उसी को होते हैं, जिनके पापों से छूटने का समय समीप आ गया हो। जैसे सूर्य को देखते ही अंधकार भाग जाता है, जैसे अग्नि की लपट के लगते ही जाड़ा भाग जाता है, जैसे ज्ञान होते ही अज्ञान का नाश हो जाता है उसी प्रकार संतों के दर्शन होते ही देह से सब दुरित दूर हो जाते हैं।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन् देर में करें या तत्काल, पापों का नाश तो देवता, तीर्थ और संत समान ही करते हैं?"

भगवान् ने कहा—"देवता उपासक के पापों का उपासना से नाश कर ही दें, सो भी बात नहीं है। यज्ञ यदि विधिहीन हुआ, तो उसके करने वाले का तत्काल नाश हो जायगा। मंत्र उच्चारण में दोष हो गया, तो विपरीत फल भी देगा।

चाहे अग्नि की उपासना करो अथवा सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी अथवा मन के अधिष्ठातृ देवों की उपासना करो, किन्तु यदि उपासक की बुद्धि भेदमयी है वह भगवान् को असीम न समझकर ससीम मानकर अन्यों से द्वेष करता है, तो उसे इन देवताओं की उपासना का भी कुछ फल नहीं मिलता। उसके पापों का सर्वथा नाश नहीं होता। उसका अज्ञान बना ही रहता है। इसके विपरीत यदि किन्हीं सच्चे संत की, ज्ञानी महात्मा की एक मुहूर्त भी श्रद्धासहित सेवा की जाय तो वे सम्पूर्ण अज्ञान का नाश करने में समर्थ होते हैं।"

नारदजी ने पूछा—"अज्ञानी के लक्षण क्या हैं महाराज! कैसे जाने ये अज्ञानी हैं, ये ज्ञानी हैं। हम तो बहुत से लोगों को देवपूजन, तीर्थसेवन करते देखते हैं। वे बिना ही सत्संग के श्रेष्ठ बन जाते हैं।"

भगवान् ने कहा—"सत्संग के बिना कोई भी भवसागर से तर नहीं सकता। अज्ञानी की मोटी पहिचान ये है। जो अनित्य, दुःखमय, वात, पित्त और कफ से बने इस शवतुल्य शरीर का ही सब कुछ समझता है, जिसकी इसी में आत्मबुद्धि है। जिसकी इस क्षणभंगुर शरीर में अहंता है। मैं विद्वान् हूँ, मैं बड़ा धनी हूँ, मैं बड़ा त्यागी हूँ, इस प्रकार का जिसे व्यर्थ अभिमान है। जिसका धन, जन, स्त्री, पुत्र, गृह, कुटुम्ब तथा परिवार आदि में ममता है, इन्हें अपना मानकर इनके सम्बन्ध से दूसरों से राग द्वेष करता है। जो केवल पाषाण प्रतिमाओं में ही तो देवबुद्धि रखता है और भगवान् के चल विग्रह संत, महात्मा, वैष्णव, त्यागी, विरागी, महापुरुषों से द्वेष रखता है। उनके साथ असहिष्णुता का व्यवहार करता है। जो केवल दूर के कूप, तालाब, सरिता तथा सरों के जल को ही एकमात्र तीर्थ मानकर विप्र

पादोदक तथा संतों के चरण धोवन जल का तिरस्कार करता है। और जो ज्ञानी, विज्ञानी महात्माओं को कुछ भी न समझकर उनका तिरस्कार करता है, उनमे पूज्य बुद्धि नही रखता वह अज्ञानी है, वोझ ढोने वाले बैल के समान है, गधे के समान है।

इसलिये मुनियो ! हमारा तो तीर्थ व्रत सब आपके दर्शनो से ही पूर्ण हो गया। आपने अपने देव दुर्लभ दर्शनो से हमें कृतार्थ कर दिया। हम अपने भाग्य की किन शब्दों मे सराहना करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् के श्रीमुख से अपनी इतनी अधिक प्रशंसा सुनकर समस्त मुनियों को बडा भारी आश्चर्य हुआ। पहिले तो वे डर गये, कि भगवान् कहीं हमारी व्याज स्तुति तो नहीं कर रहे हैं। हमारे अभिमान को और वढाने के लिये तो ऐसा नही कह रहे हैं। फिर उन्होंने भगवान् की महत्ता और भगवत्ता पर विचार किया। विचार करते करते उनकी बुद्धि में यह बात आई, कि भगवान् हमारी हँसी क्यों उडावेंगे, वे तो ब्रह्मण्यदेव हैं। वे असत्य भाषण क्यों करेंगे। हमारा तिरस्कार करना तो उन्हें कभी भी अभीष्ट न होगा। फिर भगवान् होकर हम साधारण मुनियों की वे इतनी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा क्यों कर रहे हैं ? प्रतीत होता है ये सब लोक संग्रह के ही निमित्त कर रहे हैं। इस कथन को भगवद् आज्ञा समझकर सर्वसाधारण लोग साधु सन्तो का आदर करें, उनमे भगवद् बुद्धि रखें, उनके समीप जाकर उनका दर्शन, चरण स्पर्श करके उनसे शिक्षा ग्रहण करें। ऐसा विचार आते ही मुनियों ने हँसते हुए भगवान् से कहा—"क्यों न प्रभो ! आप तो ब्रह्मण्यदेव हैं। लोक शिक्षक हैं, जगत् गुरु हैं। आप ही ऐसी शिक्षा न देंगे, आप ही अपनी वनायी मर्यादा का स्वयं पालन न करेंगे, तो धर्म की रक्षा कैसे होगी। सर्वसाधारण लोग किनसे शिक्षा

प्राप्त करेंगे । भगवान् ! आप सर्वात्मा हैं, सबके रक्षक हैं, सबके ज्ञानदाता हैं, सबके उत्पादक और संहारक हैं । आप प्रकृति से पर हैं, पुराण पुरुष हैं, साधुओं के परित्राण और पापियों के विनाश के निमित्त आप समय-समय पर नाना अवतार धारण करके विचित्र-विचित्र लीलायें किया करते हैं । हम सब आपके चरणारविन्दो मे वारम्वार नमस्कार करते हैं । आप हमारे ऊपर कृपा की दृष्टि करें, जिससे आपके पादपद्मों की अहैतुकी भक्ति प्राप्त हो ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मुनियों ने भगवान् की बड़े ही सुन्दर शब्दों मे तत्वज्ञानपूर्ण स्तुति की । उसका वर्णन समयानुसार मैं कभी 'स्तुति प्रकरण' में करूँगा ।"

ऋषियों के मुख से अपनी ऐसी स्तुति सुनकर भगवान् लज्जित हुए । मुनिगण किसी कार्य से तो आये ही नहीं थे, वे केवल भगवान् के दर्शन करने और उनकी स्तुति करने ही आये थे । दर्शन हो गये, स्तुति कर ली, अब उन्होंने भगवान् को अधिक सकोच मे डालना उचित नहीं समझा । अतः सिंहासन पर बैठे हुए अंधे धृतराष्ट्र से तथा धर्मराज युधिष्ठिर से वे बोले—"राजन् ! अब हम सब अपने-अपने आश्रमों को जाना चाहते हैं । आप भी अपना कृत्य करें ।"

यह सुनकर धर्मराज ने कहा—"अब महाराज ! मैं आपसे जाने के लिये कैसे कह सकता हूँ । आप तो सर्वज्ञ हैं, हमारे हृदय के भाव आप से छिपे नहीं हैं ।"

यह कहकर धर्मराज चुप हो गये । सभी मुनि अपने-अपने दंड, कमंडलु सम्हालने लगे, कुछ तो जाने के लिये उठ भी पड़े । उन्हें जाने के लिये उद्यत देखकर भगवान् के पूज्य पिता महातेजस्वी वसुदेवजी उठे । उन्होंने जाकर फिर से मुनियों को प्रणाम किया और कुछ पूछने की इच्छा की । वसुदेवजी के

प्रश्नो का उत्तर देने के लिये सबके सब मुनि फिर से बैठ गये। अब वसुदेवजी जैसे प्रश्न करेंगे और ऋषिगण जैसे उनके प्रश्नों का उत्तर देंगे वह कथा प्रसंग मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

सुनी श्याम की विनय भये विस्मित सब ऋषिगन।
समुझि लोकव्यवहार करयो पुनि सबने थिर मन॥
कहें देव! करि दरश दुरित दुख टरे हमारे।
प्रभु तुम अशरन शरन चरन लखि भये सुखारे॥
हृदय कमल महँ योगिजन, करहिं ध्यान जिनको सतत।
तिन पद पदुमनि ध्यान महँ, रहहिं सदा हम सब निरत॥

वसुदेवजी और मुनियों का प्रश्नोत्तर

[११७७]

नमो वः मर्वदेवेभ्य ऋपयः श्रोतुमर्हथ ।
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ८४ अ० २९ श्लोक)

छप्पय

यों करि बहु विधि विनय चलन लागे ऋषि मुनि जब ।
तुरत जाइ वसुदेव चरन सिर धरि बोले तब ॥
करम बन्ध के हेतु करम बिनु नहीं नसावें ।
कौन करम करि होहि मुक्ति सो युक्ति बतावें ॥
मुनि हँसि बोले कृष्णपितु, ह्वैके हू शंका करें ।
बसहिं गग के निकट नर, पय न पियें प्यासे मरें ॥

वृक्ष को देखकर बीज का अनुमान लगाया जाता है। वृक्ष उत्पन्न हुआ है, तो यह किसी न किसी बीज से ही हुआ है। मरण को देखकर जन्म का अनुमान लगाते हैं। जो मरा है इसका कभी न कभी जन्म हुआ होगा। इसी प्रकार वासनाओं को

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! आगत मुनियों में वसुदेवजी पूछने लगे—"हे सर्वदेवमय ऋषियो ! मैं आप सबको नमस्कार करता हूँ। आप मेरी एक विनय श्रवण करें। जिन कर्मों के द्वारा कर्मों का परिहार हो सके वह उपाय आप मुझसे कहें।"

देखकर अनुमान लगाया जाता है, कि पूर्वजन्म मे इस जीव ने इन विषयों का उपभोग किया होगा। बच्चा उत्पन्न होते ही माता के स्तनों को खोजता है, उन स्तना से उसका मुँह लगा दिया तो वह विना सिखाये चुसुर-चुसुर करके दूध का चूसने लगता है। उसे दूध पीना किसने सिखाया। कहना होगा कि उसका पूर्वजन्म की प्रकृति ही थी, उसका स्वभाव ऐसा था। पूर्वजन्मों मे उसने माता का दूध चूसा था, उसका प्रबल सस्कार अभी तक बना हुआ है। जो पुरुप उत्पन्न होता है उसकी प्राय' तीन इच्छाये अवश्य रहती हैं। पहिली इच्छा तो यह कि में धन सग्रह करूँ। दूसरी यह कि विवाह करके सन्तान उत्पन्न करूँ और तीसरी यह कि में उत्तम पद प्रतिष्ठा को प्राप्त करूँ। जब तक पुरुप की ये इच्छाये बनी रहती हैं, तब तक उसे बार बार नाना योनियों में जन्म लेना पडता है। अन्य योनियों मे तो जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र नहीं। ससार बन्धन से मुक्त होने का साधन नहीं कर सकता। एक मनुष्य योनि ही ऐसी है, इसमें पुरुप साधनों द्वारा इन इच्छाओं को समाप्त करके जन्म मरण के चक्कर से छूट सकता है। इसीलिये मनुष्य का दूसरा नाम है 'साधक'। यदि वह विषयों का सेवन केवल पशुओं की भाँति इन्द्रिय तृप्ति के लिये करता है, उनको रागपूर्वक ग्रहण करता है तब तो वह साधकपने से च्युत हो जाता है और यदि उनका सेवन शास्त्रीय विधि से, सयम पूर्वक करता है, तो सदा के लिये वासनाओं से मुक्त हो जाता है, विप का सेवन वैसे ही करो तो वह मृत्यु का कारण होगा। यदि उसे नियमपूर्वक शोधकर, वद्य की सम्मति के अनुसार, मात्रा और अनुपान के साथ सेवन करो तो वह रोगों को नाश करके आरोग्य प्रदान करता है। विप का स्वभाव तो मारना है ही, किन्तु सयम और विधि के साथ सेवन करने से जीवनदाता बन जाता है, इसी प्रकार कर्मों का स्वभाव है बन्धन

करेगा वह बन्धन में बँधेगा। किन्तु वे ही कर्म संयमपूर्वक कर्मों के नाश की इच्छा से प्रभुप्रीत्यर्थ किये जायँ, तो वे ही मुक्ति के कारण होंगे। वे कर्म कैसे होते हैं, कैसे किये जाते हैं, इसे तत्वज्ञानी ऋषि महर्षि बता सकते हैं। सन्त रूपी वैद्य ही इन सबके शोधन, अनुपान, मात्रा और विधि के ज्ञाता होते हैं। अतः उन्हीं की शरण में जाकर उन्हें प्रणाम, नमस्कार, सेवा आदि से सन्तुष्ट करके प्रश्न करना चाहिये। इस प्रकार पूछने पर वे तत्वदर्शी ऋषि महर्षि योग्य अधिकारी समझकर उसका उपदेश करेंगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब व्यासादि मुनि भगवान् के दर्शन करके चलने लगे और वसुदेवजी को प्रश्न करते देखकर वे पुनः बैठ गये तब हाथ जोड़कर उनसे वसुदेवजी बोले—"हे ऋषियो! आप सब ज्ञानी हैं, सभी शास्त्रों में पारङ्गत हैं। समस्त देवता आपके शरीर में निवास करते हैं, अतः आप सर्वदेवमय हैं। प्रथम मैं आपके पुनीत पादपद्मों में प्रणाम करता हूँ, तदनंतर मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। आप इसके लिये मुझे अनुमति प्रदान करें?"

व्यासजी ने कहा—"हाँ, महाभाग! आपको जो भी पूछना हो, उसे प्रसन्नता के साथ पूछें। हम आपके प्रश्नों का यथामति उत्तर देंगे।"

यह सुनकर वसुदेवजी बोले—"मुनियो! मैं यह पूछना चाहता हूँ, कि जितने भी कर्म हैं, वे सभी दोष युक्त हैं। कर्म तो कर्म को ही उत्पन्न करेगा। बीज अपने समान अन्य बीजों को उत्पन्न करता है। कर्म चाहे शुभ हो, अथवा अशुभ। पाप हों या पुण्य वे सब संसार बन्धन को ही बढ़ावेंगे। यह प्राणी बिना कुछ कर्म किये रह नहीं सकता। या तो पुण्य करेगा या पाप। पाप से नरक और नीच योनियों की प्राप्ति होगी और पुण्य से स्वर्ग तथा उच्च योनियों की। आप कोई ऐसा कर्म बतावें, जिसके

द्वारा मोक्ष मार्ग के प्रतिबन्धक कर्मों का परिहार किया जा सके। अर्थात् वे कर्म बन्धन के कारण न होकर मोक्ष कराने वाले हों।"

भगवान् के पूज्य पिता वसुदेवजी के मुख से ऐसा प्रश्न सुन कर सभी ऋषि मुनि हँसने लगे। वे परस्पर में कहने लगे—"देखो, कैसे आश्चर्य की बात है, जिनके घर में विश्व को मुक्ति प्रदान करने वाले साक्षात् सच्चिदानन्दघन श्रीहरि विद्यमान हैं, वे अपनी मुक्ति के लिये हमसे प्रश्न कर रहे हैं।"

ऋषियों को आश्चर्य चकित देखकर उन सरस देवर्षि भगवान् नारदजी बोले—"महर्षियो! आप इस प्रश्न को सुनकर इतना आश्चर्य प्रकट क्यों कर रहे हैं। इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है?"

ऋषियों ने कहा—"मुनिवर! इससे अधिक आश्चर्य क्या होगा कि जिसका वैद्य पुत्र नित्य प्रति सहस्रों को औषधि देकर अच्छा करता है, वही अपनी चिकित्सा के लिये किसी अन्य साधारण वैद्य के समीप जाय। मुक्तिदाता भगवान् के रात्रि दिन साथ रहने पर भी वसुदेवजी हम से मुक्ति देने वाले कर्मों का प्रश्न कर रहे हैं।"

नारदजी ने कहा—"मुनियो! किसी के घर में अमृत रखा है, उसे वह पीवे नहीं तो अमृत कैसे अमर कर देगा। मुक्ति दाता भगवान् इनके घर में हैं, किन्तु ये तो उन्हें अपना पुत्र माने बैठे हैं। ये स्वयं उलटे इन्हें सिखाते हैं। इन्हें पोष्य समझते हैं। उनसे ये कैसे प्रश्न कर सकते हैं।"

इस पर मुनियों ने कहा—"अच्छा, ये भले ही पुत्र मानें, किन्तु भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, घट घट की जानने वाले हैं, वे ही इनके अन्तःकरण में प्रवेश करके इनके इस प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दे देते?"

उस पर नारदजी ने कहा—"भगवान् जो इनके अन्तःकरण

मे प्रवेश करके इनकी शंका समाधान नहीं करते इसके कई कारण हैं।"

पहिला कारण तो यह है, कि भगवान् की प्रतिज्ञा है जो मुझे जिस भाव से भजता है उसे मैं उसी भाव से फल देता हूँ। जो भगवान् को पुत्र मानता है उसके सामने वे सर्वथा पुत्र बन जाते हैं। बालकों की भाँति चेष्टा करते हैं। जो उन्हें मित्र मानता है उसके मित्र बन जाते हैं, जो उन्हे पति मानती हैं उनके सम्मुख वैसी ही चेष्टायें करने लगते हैं। जिसमें उन्हें सुख हो, सतोष हो वैसी ही विनोदमयी लोलायें, रास विलास की क्रियायें करने लगते हैं। जब वसुदेवजी भगवान् को पुत्र मानते हैं, तो पुत्र का काम तो उपदेश करना है नहीं। इसलिये उपदेश नहीं दिया।

दूसरा कारण यह भी है कि अति परिचय से अवज्ञा हो जाती है। कोई चाहे कितना भी बडा सिद्ध महात्मा क्यों न हो। आठो प्रहर हम उसके समीप रहे तो उस पर उतना विश्वास होता नहीं। बाहर से कोई ढोंगी भी आ जाय तो उस पर विश्वास हो जाता है। कहावत है—"घरका योगो जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध" आप प्रत्यक्ष ही देखें। सब शास्त्र पुराणों में गगाजी की कितनी महिमा है। दूर-दूर से लोग गंगा स्नान करने कितनी भक्ति से आते हैं। किसी पर कोई पाप बन जाय, तो पंडित व्यवस्था देते हैं, गंगा स्नान कर आओ। किन्तु जो गगा के किनारे सदा रहते हैं, उनमें से अधिकांश नित्य गंगा स्नान करने नहीं जाते कूप पर स्नान करते हैं। अपने पापों का प्रायश्चित करने भी कहीं दूर जाते हैं, क्योंकि गंगा किनारे रहने से उनका गगाजी के माहात्म्य में अविश्वास हो जाता है। कोई बड़े भारी संत हैं। नित्य ही हमारे साथ हँसते खेलते हैं। बालकों की-सी क्रीड़ा के लिये ये सब खेल करते हैं। ऐसे ही इनके बाप भी हो सकते बातें करते हैं। हम उन्हे डॉट डपट भी देते हैं, बुरा नहीं मानते

हँस जाते हैं, तो हमारे मन मे उनके प्रति बहुत आदर भाव नहीं रहता उन्हें अपने ही जैसा साधारण मनुष्य समझते हैं। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ज्ञान स्वरूप है, इनका ज्ञान त्रिकालाबाधित है, ये जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के एकमात्र कारण हैं, इनका ज्ञान किसी दूसरे के सग से या स्वतः कभी क्षीण नहीं होता। ये राग द्वेषादि क्लेश, शुभ अशुभ कर्म, सुख दुःखादि कर्म फल, तथा सत्त्व, रज और तम इन गुणों से सदा अखडित और एकरस हैं, इन सबका इन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पडता, फिर भी इन्होंने नर रूप धारण करके अपनी भगवत्ता को कुछ ढँक लिया है। जैसे सूर्य मेघ से ढँक जाते है, तो अज्ञानी लोग समझते हैं, सूर्य है ही नहीं। वास्तव मे सूर्य कहीं चले नहीं गये हैं, किन्तु मेघो के आवरण से वे दिखाई नहीं देते इसी प्रकार मनुष्य रूप में छिपे रहने के कारण लोग इन्हें भी इन्द्रियादि से आच्छादित मानते हैं।

तीसरा कारण यह भी है, कि भगवान् तो सब नरनाट्य कर रहे हैं न ? अब उन्हें इन सब राजाओं की प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश कराना है वाणी में शक्ति देने वाले भी तो वे ही हैं। सबके हृदय में प्रेरणा करने वाले ये ही यदुवश विभूषण हैं। श्री वसुदेव जी के हृदय में इन्होंने प्रश्न की प्रेरणा कर दी। आपके द्वारा उत्तर दिला देंगे। जगत् का कल्याण हो जायगा। लोगों को भवसागर से तरने का सुगम मार्ग विदित हो जायगा।

चौथा कारण यह भी हो सकता है, कि जैसे स्वय भगवान् भोले बनकर दाम में बँध जाते हैं, गोपिकाओं और गोपों से हार जाते हैं, दूध के लिये रोते हैं, चोरी आदि प्राकृत लीला करते हैं, वास्तव में इन्हें इन सब की आवश्यकता नहीं। पूर्ण काम को क्या स्पृहा हो सकती है, किन्तु मनोरजन के लिये भक्तों को सुख देते हैं। यद्यपि इन्हें कोई शका न होगी, किन्तु ऐसा प्रश्न करने से

कुछ काल सत्संग का आनन्द मिलेगा। लोगों को कुछ शिक्षा मिलेगी, इसी हेतु ऐसा प्रश्न किया होगा। कैसे भी हो आप वसुदेवजी के प्रश्न का उत्तर दें।"

नारदजी की ऐसी बात सुनकर उन सब ऋषियों ने वसुदेवजी के प्रश्न का अभिनन्दन किया और उन्हें सम्बोधित करके श्री बलरामजी तथा श्रीकृष्ण को सुनाते हुए उनके प्रश्नों का उत्तर देने लगे। सब क्या उत्तर देते, सबकी ओर से भगवान् वेदव्यास जी कहने लगे—"महाभाग वसुदेवजी! कर्मों के द्वारा कर्मों का परिहार करने का विद्वानों ने सर्वश्रेष्ठ, परम सुगम, सर्वोपयोगी तथा अव्यर्थ उपाय यही बताया है कि द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योग यज्ञ स्वाध्याययज्ञ अथवा ज्ञान द्वारा सर्वयज्ञपति भगवान् विष्णु का पूजन करे। जो भी कर्म करे यज्ञ की पूर्ति के ही निमित्त करे। यज्ञ के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं, वे बन्धन के हेतु हैं। जैसे स्नान करे, तो इस भावना से न करे कि स्नान करने से हमें स्वर्ग होगा, किन्तु इस भावना से करे कि स्नान करके हम विष्णु पूजन कर सकेंगे। भगवान् की सेवा के अधिकारी बन सकेंगे। पुष्प तोड़े तो भगवान् की पूजा के निमित्त, कृषि करे तो भगवान् के भोग के निमित्त, हवन के निमित्त। साराश यह है कि जो भी कर्म करे प्रभुप्रीत्यर्थ करे, भगवान् की सेवा के सम्बन्ध से करे। इन्द्रिय तृप्ति के निमित्त कुछ भी काम न करे। बड़े-बड़े विद्वानों ने शास्त्र दृष्टि से यही चित्त की शांति का उपाय परम सुगम, मुक्ति साधन और मन प्रसाद का उत्तम उपाय बताया है।"

वसुदेवजी ने पूछा—"महाराज! मैं त्यागी, विरागी, गृह त्यागी, सन्यासी तो हूँ नहीं। मैं तो गृहस्थ हूँ, गृहस्थी के उपयोगी कोई साधन बतावें।"

भगवान् वेदव्यास बोले—"राजन! सदगृहस्थों के लिये यही मार्ग का उपाय है कि अपने न्यायार्जित धन से श्रद्धा सहित

भगवान् पुरुषोत्तम का पूजन करना। या तो उनका अर्चा मूर्ति का षोडशोपचार से प्रेमपूर्वक पूजन करे, अथवा अग्नि में उनके अश भूत देवताओं के उद्देश्य से प्रभु प्रीत्यर्थ हवन करे या ब्राह्मण मे, गुरु मे, अतिथि मे अथवा सर्वभूतों में उन्हीं की भावना करके पूजन करे। कर्मों को निष्काम भाव से करना चाहिये।

सभी पुरुषो के हृदय मे वित्तैषणा, पुत्रैषणा, और लोकैषणा ये तीन एषणा बनी रहती हैं। इसलिये ऐसे कर्म करे जिससे ये एषणायें शान्त हो जायँ। इन एषणाओं को लिये हुए जो घर छोड़कर बाबाजी बन जाते हैं, उनका पतन अनिवार्य है। अतः घर में ही रहकर इन एषणाओं इच्छाओं को त्याग दें। तब घर छोड़कर वन जाने का विचार करे।

वसुदेवजी ने पूछा—"ब्रह्मन्! स्पष्ट करके समझावें, इन एषणाओं का त्याग किन उपायों द्वारा किया जा सकता है?"

मुनि बोले—"राजन्! धन पैदा करने की इच्छा का नाम वित्तैषणा है। इसलिये धन पैदा तो करे किन्तु न्याय से करे, धर्म-पूर्वक करे। अन्याय से अधर्म से कभी भी धन पैदा करने की इच्छा न करे धर्मपूर्वक धन न मिले तो भूखों भले ही रह जाय, किन्तु अधर्मपूर्वक, अन्याय से यदि कोटि रुपया भी मिलते हों, तो उनको ठुकरा दे। जो पैदा करे उसे यह नहीं कि जो आया उसे धर गुल्लक में। जितना भी न्याय से धन मिले उसे यज्ञ और दानादि में व्यय करे। दान धर्म भी करे, तो प्रभु प्रीत्यर्थ करे। इस प्रकार न्यायपूर्वक धन कमाकर उसे धर्म कार्यों में लगाने से वित्तैषणा शान्त हो जाती है। यज्ञ दानादि करके मनुष्य देव ऋण से मुक्त बन जाता है।"

स्त्री के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा का नाम पुत्रैषणा है। इस इच्छा का पूर्ण करने के लिये विवाह करे। अपनी ही विवाहिता पत्नी में सन्तुष्ट रहे। परपत्नी की ओर दृष्टि उठाकर

भी न देखे। अपनी ही भार्या में ऋतुकाल के अनन्तर सन्तानोत्पत्ति करे। यह जो अपना शरीर है, वह अपने पूर्वजों का न्यास भूत है। इसलिये पुत्र उत्पन्न करके पुत्रैषणा का त्याग करे और पितरों के ऋण से भी विमुक्त बन जाय।

संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करना अथवा स्वर्गादि लोकों को जीतने की इच्छा का नाम लोकैषणा है। यह लोकैषणा विचार से, वैराग्य से, जप, तप से शान्त होती है। इस प्रकार का निरन्तर विचार करता रहे, कि जिस प्रकार ये संसारी पदार्थ नाशवान् हैं, उसी प्रकार काल क्रम से ये स्वर्गादि लोक भी छूट जाते हैं।

इस प्रकार जब ये तीनों एपणायें छूट जायँ, अपने पुत्र के भी पुत्र हो जाय, तब धीर पुरुष को फिर गृहस्थी में ही न चिपके रहना चाहिये। उसे सबको छोड़कर तपस्या करने के निमित्त वन में चले जाना चाहिये। यही द्विजाति गृहस्थियों के लिये मुक्ति का क्रम मार्ग है। द्विजाति बालक जब उत्पन्न होता है, तभी उसके सिर पर देवऋण ऋषिऋण, और पितृऋण ये तीनों ऋण लद जाते हैं। देवऋण, तो यज्ञ यागादि करने से छूटता है। ऋषिऋण वेदादि अध्ययन से उतरता है और पितृऋण से पुत्रोत्पत्ति के द्वारा उऋण हुआ जाता है। जो लोग इन तीनों ऋणों को बिना चुकाये ही बाबाजी बन जाते हैं। संसार को त्यागकर विरागी बन जाते हैं उनका प्रायः पतन ही होता है।

वसुदेवजी ने कहा—"तब महाराज! मेरा कर्तव्य बताइये अब मुझे क्या करना चाहिये।"

हँसते हुए मुनि बोले—"राजन! तुम्हें अब हम क्या कर्तव्य बतावें, तुम तो सभी कर्तव्यों से विमुक्त बन गये। महाभाग! आप तो कृतकृत्य हो चुके। अवश्य ही आपने पूर्वजन्मों में अत्यन्त ही भक्तिभाव से जगतपति भगवान् विष्णु का पूजन किया होगा, उसी के परिणाम स्वरूप तो साक्षात् सच्चिदानन्द-

घन विग्रह श्रीहरि आपके यहाँ पुत्र रूप में प्रकट हुए हैं। आप और भगवती देवकी दोनों ही बड़े भाग्यशाली हैं। जिन्होंने जगत्-पति को पुत्र बना लिया है। आपके लिये कोई कर्तव्य शेष तो रहा नहीं, फिर भी लोकदृष्टि से आप कुछ करना ही चाहते हैं, तो हम बताते हैं। आप वेदाध्ययन करके तो ऋषिऋण से उऋण हो चुके। श्री कृष्ण तथा श्री बलराम आदि अनेकों पुत्र उत्पन्न करके आप पितृ ऋण भी भली भाँति उऋण हो चुके हैं। अब रहा देवऋण सो उसके लिये अग्निहोत्र, पञ्चयज्ञ आदि दैनिक कृत्य तो आप करते ही हैं। आप सामर्थ्यवान् हैं, एक बड़ा भारी यज्ञ और करें, जिससे आप देवऋण से भी लौकिक दृष्टि से भली भाँति उऋण हो सकें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर वसुदेवजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। वे बोले—मुनियो! आपने तो मेरे मन की ही बात कह दी। क्यों न हो, आप तो त्रिकालज्ञ हैं। मेरी इच्छा हो रही थी, कि इस कुरुक्षेत्र की पुण्य भूमि में कोई बड़ा भारी यज्ञ करूँ। मुझे चिन्ता हो रही थी, कि इतने भारी यज्ञ के लिये योग्य से योग्य ऋत्विज, सदस्य, होता, उद्गाता तथा सभासदादि कहाँ से लाऊँगा। भगवान् ने मेरी घर बैठे विनती सुनली। आप सब अपने आप ही यहाँ पधारे। अब मेरी आप सब के पाद पद्मों में यही पुनः पुनः प्रार्थना है, कि आप सब मेरे निमंत्रण को स्वीकार करें और इस भावीयज्ञ के आप ऋत्विज बनें।"

ऋषियों से जब महामना वसुदेवजी ने सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए ऐसी प्रार्थना की, तब भगवान् व्यास बोले—"राजन्! हममें से बहुत से मुनि ऐसे भी हैं जो यज्ञ यागादिकों में वरण नहीं करते, किन्तु भगवान् के दर्शन होते रहेंगे, इस लोभ से हम सबके सब आपके ऋत्विज बनेंगे। आप हमारा विधिवत् वरण करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब ऋषियो ने ऋत्विज बनने की स्वीकृति दे दी, तब वसुदेवजी को बड़ा हर्ष हुआ, उन्होंने तुरन्त यज्ञ सम्बन्धी समस्त सामग्रियाँ एकत्रित करायीं, विशाल यज्ञ मडप बनाया गया, वह ध्वजा पताका और बन्दनवारों से भली भाँति सजाया गया। वसुदेवजी ने विधिवत् यज्ञ की दीक्षा ली उस परम पावन पुण्यप्रद कुरुक्षेत्र में यज्ञ के लिये उन जगत् विख्यात ब्रह्मर्षियों को ऋत्विज रूप में वरण किया। अब जैसे वसुदेवजी का यज्ञ महोत्सव होगा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब इस मङ्गलमय प्रसङ्ग को आनन्द और उल्लास के सहित श्रवण करें।"

छप्पय

नारद बोले मुनिगन ! जामें अचरज नाहीं।
रहे संग नित होहि न श्रद्धा ताके माहीं॥
सुनि मुनि बोले—"प्रभुप्रसाद हित कर्म करें जे।
होहि न तिनकूँ दोष बन्ध जग नहीं परें ते॥
सुररिन, ऋषिरिन, पितृरिन, रहें सबनि पै तीन रिन।
यज्ञ और अध्ययन सुत, करि होवें सब द्विज उरिन॥

कुरुक्षेत्र में वसुदेवजी का यज्ञ महोत्सव

[११७८]

तामिर्दुकूलवलयैर्हारनूपुरकुण्डलैः ।
स्वलंकृताभिर्विबभौ दीक्षितोऽजिनसंवृतः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८४ अ० ४८ श्लोक)

छप्पय

सुत सर्वेश्वर करे कर्यो अध्येन यथामति।
कर्यो न मख, अब करो, शूरसुत सुनि हरषे अति ॥
मख करवावो मोहि मुनिनि तें विनती कीन्ही।
सब ऋषि ऋत्विज करे यज्ञ की दीक्षा लीन्ही ॥
सज बजि नरनारी फिरहिं, मख हित लावहिं फूल फल।
हरि दरशन के लोभ वश, रहे तहाँ ऋषि मुनि सकल ॥

तीर्थ में जाकर घर गृहस्थी के काम काज तो रहते नहीं, समय बहुत बचता है, उस समय को जो इधर-उधर की वार्तों में बिता देते हैं उन्हें तीर्थ का पूर्ण फल नहीं मिलता। तीर्थों में रहते समय सबसे श्रेष्ठ समय का सदुपयोग तो यही है कि वह पुण्य

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं— राजन्! श्री वसुदेवजी ने यज्ञ की दीक्षा ली हुई थी, अतः कृष्ण मृगचर्म ओढे हुए वे अपनी पत्नियों सहित अत्यंत ही शोभा को प्राप्त हुए। उनकी पत्नियाँ सुन्दर साड़ियाँ ओढे हुए तथा कङ्कण, कुण्डल, हार और नूपुरादि आभूषणों से भली भाँति सजी बजी थीं।"

स्थानों के दर्शन मे, साधु महात्माओं के सत्संग में और यज्ञ यागादि धार्मिक महोत्सवों मे विताया जाय। तीर्थों मे साधु संतो की सन्निधि मे जो महोत्सव होते हैं, उनमे सभी जुट जाते हैं, सभी व्यस्त हो जाते हैं। सभी के हृदय मे उत्साह भरे रहते हैं। यह ला, वह ला, यह नहीं आया, वह नही आया, इस प्रकार उन्हीं कार्यों मे तन्मय होने से समय का पता ही नहीं चलता कब चला गया। ऐसे सुखद दिवस व्यतीत तो हो ही जाते हैं, अनन्त के गर्भ मे विलीन तो हो ही जाते हैं, किन्तु हृदय पर एक अमिट मीठी-मीठी स्मृति छोड़ जाते हैं। जब भी उन दिनो का स्मरण आता है. हृदय प्रफुल्लित हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामना वसुदेवजी ने ऋषियों की आज्ञा से कुरुक्षेत्र मे यज्ञ की दीक्षा ली। यादवों के आवास मे एक प्रकार की उत्साह की बाढ सी आ गयी। सभी यादव वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर, कमलों की मनोहर मालाये पहिन कर इधर से उधर घूमने लगे। सबने भली भाँति उबटन लगाकर स्नान किये थे। बालों को सम्हाल कर, तिलक लगाकर, सुन्दर वस्त्र और कण्ठ मे कमलों की माला धारण करके बडी प्रसन्नता से यज्ञ के कार्य कर रहे थे। अन्य नरपतिगण भी बहुमूल्य वस्त्र आभूषणों से विभूषित, होकर यज्ञ की शोभा बढ़ा रहे थे। वसुदेव-की पत्नियों की शोभा तो अनुपम थी। वे अङ्गराग चन्दनादि लगाकर तथा सुवर्ण के पदक आदि उत्तम आभूषण पहिन कर अपने कमल जैसे कोमल करों मे यज्ञ सम्बन्धी बहुत सी सामग्रियों को लेकर आ रही थीं। सबके हृदय उत्साह और आनन्द से भरे हुए थे। चारो ओर मगल-गान हो रहे थे। वेदमत्रो की ध्वनि आकाश मडल मे गूँज रही थी। नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। मृदङ्ग, पटह, शङ्ख, भेरी और आनक आदि बाजे अपनी भिन्न-भिन्न ध्वनियों को एक में मिलाकर एक विचित्र ही स्वर

लहरी का सृजन कर रहे थे। अप्सरायें वहाँ नृत्य कर रही थीं, बाजे वाले बाजे बजा रहे थे, गाने वाले गा रहे थे, स्तुति करने वाले स्तुति कर रहे थे।

वसुदेवजी अपनी तेरहों पत्नियों से घिरे हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानों सत्ताईस नक्षत्रों से घिरे हुए चन्द्रमा राजसूय यज्ञ में बैठे हों। वसुदेवजी की पत्नियाँ विधिपूर्वक सज बजकर—सोलह शृङ्गार करके—बैठी थीं। उन्होंने तेल, हल्दी आदि लगाकर स्नान किया था और अगराग आदि से अगों को सुशोभित किया था ऋत्विजों ने पत्नियों सहित वसुदेवजी का अभिषेक कराया। जिस प्रकार वसुदेवजी अपनी पत्नियों के सहित वस्त्राभूषणों से सुशोभित थे वैसे ही उन्होंने यज्ञ में वरण किये अपने समस्त ऋत्विज और सदस्यों को भी रत्न जटित आभूषण तथा रेशमी वस्त्रधारण कर के सम्मानित किया। बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहिने ऋत्विज और सदस्य गण ऐसे ही लगते थे मानो देवराज इन्द्र के यज्ञ में दिव्य विप्रगण विराजमान हों। भगवान् श्री बलरामजी तथा श्रीकृष्ण-चन्द्रजी भी अपनी पत्नियों तथा सतानों सहित उस यज्ञ की शोभा बढा रहे थे। वे ऐसे लगते थे मनों जीव और ईश एक साथ बैठे हों।

वसुदेवजी ने ब्राह्मणों की बताई विधि के अनुसार प्राकृत तथा वैकृत यज्ञों को विधिपूर्वक किया प्राकृत यज्ञ तो जैसे ज्योतिष्टोम, दर्श, तथा पौर्णमास आदि यज्ञ और वैकृत जैसे सौरस आदि वसुदेवजी ने सभी यज्ञों को किया। यज्ञ का कार्य बडी धूम धाम से हुआ। वसुदेवजी के यज्ञ का समाचार देश देशान्तरों में व्याप्त हो गया, अतः लक्षों दर्शनार्थी वहाँ आते थे यज्ञ में आने वालों में ऐसा कोई नहीं था, जिसका यज्ञ की ओर से स्वागत सत्कार न किया गया हो। नाना प्रकार के पटरस व्यजन लिये सेवक सदा घूमते रहते थे और दर्शकों को आग्रह पूर्वक भोजन

कराये थे। कोई भी याचक यज्ञ से नहीं लौटा जिसे उसकी इच्छित वस्तु न मिली हो। यज्ञ के अन्त में शूरनन्दन वसुदेवजी ने ऋत्विज विप्रों को शास्त्रानुसार सुवर्ण, मणि, माणिक्य तथा अन्यान्य बहु मूल्य दक्षिणा दी। बहुत सी तुरन्त ब्याई हुईं दुधार गौएँ दीं। पृथ्वी अन्न, वस्त्र, रूपवती, गुणवती, शीलवती तथा सद्कुलोद्भूता बहुत सी सुन्दरी कन्यायें दक्षिणारूप में दीं। तदनतर ऋषियों ने वसुदेवजी से पत्नीसयाज कर्म कराया। तदनतर यज्ञान्त अवभृत स्नान किया। मुनियों ने यज्ञ के प्रधान यजमान वसुदेवजी को आगे करके गाजे बाजे के साथ, बड़े उत्साह के सहित परशुरामजी द्वारा रचे हुए कुण्डों में स्नान कराया। उस समय का दृश्य बड़ा ही अलौकिक था। यज्ञीय घट को सिर पर रखकर वसुदेवजी अपनी पत्नियों के साथ जा रहे थे। सहस्रों राजा उनका अनुसरण कर रहे थे। भगवान् श्री कृष्णचन्द्र और बलरामजी भी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। सूत, मागध, बन्दी उनकी विरुदावली गाते जाते थे। यदुवंशियों में भी सहस्रार्जुन, मधु, वृष्णि, भोज, शूरसेन, कुकुर, दशार्ह तथा अन्यान्य प्रसिद्ध प्रसिद्ध भूपति हुए हैं, बन्दी जन उनकी पवित्र कीर्ति का गान कर रहे थे। स्नान के अनतर प्रसन्न होकर वसुदेवजी ने उन स्तुतिजीवी सूत, मागध और बन्दीजनों को वस्त्र, अलङ्कार तथा सुवर्ण मुद्राओं के रूप में बहुत से पारितोषिक दिये। श्री वसुदेवजी की पत्नियों ने भी बहुत-सा दान किया। उस यज्ञ में किसी भी वर्ण का कोई भी कभी भी प्राणी आया वह सत्कार द्वारा सन्तुष्ट किया गया, चाहे वह शूकर कूकर कोई भी क्यों न हो

इस प्रकार वसुदेवजी यज्ञ रूपी महासागर को श्रीकृष्ण कृपासे सुगमता पूर्वक निर्विघ्न तर गये। वसुदेवजी ने उस यज्ञ में अपनी सभी बहिनों को पुत्रियों को, परिवार वालों को तथा सगे सम्बन्धी सभी को बुलाया था। यज्ञ समाप्त होने पर जितने भी आये थे,

उन्हे विदाई देकर बडे सत्कार से विदा किया वहिनों को लडकियों को तथा और भी जो अपने मान्य पक्ष की स्त्रियाँ थीं उन्हें रेशमा तीहलें दीं। पुरुषों को सिरोपे मणि जटित सुवर्ण के आभूषण दिये। इस प्रकार अपने बन्धु बान्धव, सगे सम्बन्धा उनकी स्त्रियो तथा वच्चों को यथायोग्य वस्तुएँ देकर स्नेह भरित हृदय से विदा किया। यज्ञ में आये हुए विदर्भ, कोसल, कुरु, काशी, केकय तथा सृञ्जय देश के राजा वसुदेवजा का आज्ञा ले राम कृष्ण द्वारा सत्कृत होकर अपने अपने देशों को गये। यज्ञ मे जिन सदस्यो और ऋत्विजों ने कार्य किया था वे भी विपुल दक्षिणा पाकर सन्तुष्ट हुए। देवता अपने भागों को पाकर, मनुष्य भोजन, वस्त्र और धनादि पाकर, भूतगण वलि पाकर, पितर श्राद्धान्न और तर्पण का जल पाकर तथा चारण आदि सम्मान और पारितोषिक पाकर भली प्रकार सतुष्ट हुए। ये सबके सब यज्ञ समाप्त होने पर भगवान् की आज्ञा लेकर अपने अपने स्थानों को चले गये। जाते हुए मार्ग मे यज्ञ की बडी प्रशसा करते जाते थे। कोई कहता—"ऐसा यज्ञ तो हमने आज तक कोई देखा नहीं।" दूसरा कहता—"क्यों न हो, जहा साक्षात् लक्ष्मीनिवास विराजमान हैं। वहाँ कमी ही किस बात की रह सकती है। भगवान् तो इस सम्पूर्ण चराचर जगत् क एक मात्र स्वामी हैं। ऋद्धियाँ सिद्धियाँ तो हाथ जोडे हुए उनकी सेवा मे सदा खडी रहती है।"

जब सब लोग चले गय तो कोरवपक्षीय लोगा ने तथा अन्यान्य राजाओं ने भी भगवान् स आज्ञा चाही। जिनसे जितनी ही अधिक घनिष्ठता थी, उन्हे उतनी ही देर म विदा किया गया। और लोग जब चले गये तब धृतराष्ट्र, विदुर, धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रोणाचार्य, कुन्ती तथा अन्यान्य घनिष्ट सम्बन्धी भी रोते रोते विदा हुए। सब परस्पर में हृदय स हृदय सटाकर मिले थे।

ऋषियों में भगवान् वेदव्यास और देवर्षि नारद सबसे पीछे विदा हुए। भगवान के दर्शनों के लोभ में वे कुछ दिन और रह गये। अन्त में वे भी भगवान की अनुमति लेकर तथा उनके वियोग की व्यथा से व्याकुल होकर स्नेहार्द्र हृदय से भगवान की मूर्ति को मन में रखकर विदा हुए।

उग्रसेनजी ने वसुदेवजी ने तथा अन्य समस्त यादवों ने नंदजी का बड़ा स्वागत सम्मान किया, उन्हें वस्त्र, आभूषण तथा नाना प्रकार की सुन्दर सामग्रियों से सत्कृत किया। गोपिकाओं को भी वस्त्र, अलङ्कार आदि दिये गये। जब यज्ञ समाप्त हो गया और प्रायः सभी राजा विदा होकर अपने-अपने देशों में चले गये, तब एक दिन नन्दजी ने वसुदेवजी से कहा—"भैया! अब हमें भी व्रज से आये बहुत दिन हो गये हैं, अतः हमें भी जाने की अनुमति मिलनी चाहिए।"

वसुदेवजी ने कहा—"भयाजी! ऐसी क्या शीघ्रता है, अभी कुछ दिन और रहो।" यह सुनकर नन्दजी चुप हो गये। कुछ दिन पश्चात् फिर कहा फिर भी वसुदेवजी ने कुछ कहकर टाल दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आज कल करते हुए नन्दजी वहाँ यादवों के साथ तीन महीनों तक रह गये। अन्त में वे सब किस प्रकार अत्यंत दुखित होकर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र और यादवों से पृथक हुए इस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

अनुपम उतसव भयो सबनि को स्वागत कीन्हों।
बहुत धेन धन धान दान विप्रनि कूँ दीन्हों॥
मख महँ सुर ऋषि पूजि शूर सुत अति हरषाये।
पाइ मान सुर विप्र सकल निज धाम सिधाये॥
पूजित ह्वै कें नन्दजी, सब ई गोपी गोप गन।
रहे कछुक दिन संग तहँ, पुनि कीयो व्रज कूँ गमन॥

गोपी और गोपों की कुरुक्षेत्र से विदाई

[११७६]

नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥*

(श्री भा १० स्क० ८४ अ० ६६ श्लोक)

छप्पय

नित प्रति छकरा जोरि चलहिँ जब गोप नयन भरि ।
आजु नहीं अब कालिह जाइँ, यों कहि रोकें हरि ॥
तीन मास यों रहे निकट जब बरषा आई ।
भये विवश बल श्याम कष्ट तैं करी विदाई ॥
नंद यशोदा सुतनि कूँ, पुनि पुनि हिये लगाइकें ।
कच भिगवत चूमत वदन, नयननि नीर बहाइकें ॥

वियोग न हो, तो संयोग सुख की पूर्ण अनुभूति न हो। यह संसार द्वन्द पर अवस्थित है, उत्थान पतन, सुख-दुख, जीवन मरण तथा यश-अपयश आदि एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं अनुभूति नहीं। यही बात संयोग-वियोग के विषय में है। जिससे संयोग हुआ है, उससे

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नन्दादि गोपगण तथा गोपिकायें ये सबके सब श्री गोविन्द के चरणारविन्दों मे चिपके हुए अपने मनको निकालने में असमर्थ होते हुए भी शरीरो से मथुरा जी को गये।"

वियोग भी अवश्य होगा। संयोग-वियोग शृंखला की दो कड़ियाँ हैं, जो एक दूसरे को जकड़े हुए हैं। संयोग में जैसा सुख होता है, वियोग में वैसा ही दुख भी होता है। यदि पुनर्मिलन की आशा न हो तो वियोगजनित दुःख को सहकर कौन जीवित रह सकता है। प्रिय वियोग की सम्भावना से ही हृदय की कैसी दशा हो जाती है वह अकथनीय है। यदि वह वियोग प्रत्यक्ष साक्षात् रूप से सम्मुख समुपस्थित हो जाय, तब तो फिर कुछ कहा ही नहीं जाता, किन्तु प्रियवियोग में भी एक ऐसा मीठा-मीठा सुख छिपा रहता है, कि वह दुःख भी अच्छा लगता है, उन आसुओं में भी शीतलता होती और उस हृदय की धड़कन में भी प्रिय की अनन्त स्मृतियाँ सन्निहित रहती हैं ऐसा वियोगजन्य दुःख जिन भाग्यशालियों को होता है, उनके पुनीत पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी का यज्ञमहोत्सव बड़ी धूमधाम से समाप्त हुआ। शनैः-शनैः समस्त समागत सम्बन्धी विदा होकर चले गये। स्नेहवश गोप गोपियों सहित नन्दजी को कुछ दिन के लिये यादवों ने और रख लिया। नन्दजी की इच्छा तो नहीं होती थी, कि श्री कृष्ण बलराम को छोडकर जायँ, किन्तु ब्रज को छोड़े हुए बहुत दिन हो गये थे। अतः उन्हें बार-बार वृन्दावन की याद आती। कहते अब कल चले जायँगे। कल जाने की तैयारी करते श्यामसुन्दर आकर कहते—बाबा! आज बुध को कैसे जाओगे। बुद्ध बिछोहा अच्छा नहीं होता।"

नन्दजी क्या करते, रुक जाते और कहते—"अच्छा, भाई! कल अवश्य जायँगे।"

कल जब फिर तैयारियाँ करते तब यादवों के साथ बलदेवजी आते और कहते—"बाबा! आज तो दिशाशूल है। दिशाशूल

में कहीं यात्रा की जाती है।" नन्दजी फिर रुक जाते-फिर दूसरे दिन सब तैयारियाँ करते। भगवान् थोडा सा पिसा हुआ कायफल सूँघ लेते छींक आ जाती, तो कहते—"अजी बाबा! छींक हो गयी। अपशकुन हो गया। आज जाना शुभ नहीं।" इसी प्रकार कभी चन्द्रमा अच्छे नहीं, कभी लग्न, योग, करण, वार, नक्षत्र और तिथि में दोष बताते, इसी प्रकार आज-कल, आज-कल करते हुए तीन महीने हो गये।

सभी यादव गोपों के प्रेम को देखकर आश्चर्य चकित हो गये। गोपियों के अनुराग को देखकर भगवान् की पत्नियाँ अपने प्रेम को धिक्कारने लगीं। वे श्री राधाजी की बहुत प्रशंसा सुनती थीं, किन्तु वे यह न समझ सकीं कि श्री राधाजी मे क्या विशेषता है। एक दिन रुक्मिणी आदि पटरानियों ने श्रीजी को एकान्त मे बुलाया। उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। श्रीजी तो अत्यन्त भोरी थीं, वे बातें करना भी नहीं जानती थीं। रानियाँ जो बात पूछतीं अत्यन्त संक्षेप मे उसका उत्तर देकर चुप हो जातीं। रानियाँ समझ ही न सकीं वे किस भाव में तल्लीन हैं। अन्त मे रुक्मिणी जी ने कहा—"जीजी! तनिक-सा दूध पी लो।"

श्रीजी ने मना किया, किन्तु सभी रानियाँ आग्रह करने लगीं। वे इतने आग्रह को कैसे टाल सकती थीं। पीना स्वीकार कर लिया। दूध कुछ अधिक गरम था। सम्भवतया रानियाँ गरम दूध पीती होगीं इसीलिये श्रीजी को भी गरम दूध ही दिया। संकोच वश वे पी गयीं, उन्होंने कुछ कहा ही नहीं।

रात्रि में जब श्री रुक्मिणी जी भगवान् की चरण सेवा के निमित्त गयीं, तो उन्होंने देखा भगवान् के चरणों मे बड़े-बड़े छाले पडे हुए हैं। देखकर रुक्मिणीजी आश्चर्य चकित हो गयीं और बोलीं—"प्राणनाथ! यह आपके चरणों मे क्या हो गया है, इनमें ये छाले कैसे पड़ गये हैं आप तो कहीं बाहर गये नहीं।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, कुछ नहीं है ऐसे ही छाले पड गये हैं।" रुक्मिणीजी पीछे ही पड गयीं। अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहने लगीं—"नहीं, महाराज ! आपको बताना ही होगा।"

तब भगवान बोले—"तुम नहीं मानती हो तो सुनो। देखो, श्री राधिकाजी के हृदय में मेरे चरण सदा बने रहते हैं। आज तुमने उन्हें गरम दूध पिला दिया वह मेरे हृदयस्थ चरणों से स्पर्श हुआ, उसी से छाले पड गये।"

भगवान् की बात सुनकर अब सबको श्री राधिकाजी का महत्व मालूम हुआ। सभी समझने लगीं कि श्यामसुन्दर और श्री जी अभिन्न हैं। श्रीजी के हृदय में सदा श्यामसुन्दर निवास करते हैं और श्यामसुन्दर के हृदय में सदा श्रीजी वास करती हैं।" तब से सभी रानियाँ श्रीजी का अत्यधिक आदर सत्कार करने लगीं। इस प्रकार स्त्रियों से स्त्रियाँ और पुरुषों से पुरुष अत्यन्त ही हिल मिल गये। एक दूसरे को छोडना नहीं चाहते थे, किन्तु कर्तव्य के वशीभूत होकर एक दूसरे से पृथक् होने को विवश थे। अतः अब जाने की तैयारियाँ करने लगे।

जब नन्दजी बारम्बार जाने का आग्रह करने लगे, तो एक दिन आँखों में आँसू भरकर वसुदेवजी कहने लगे—"भैया ! नन्दजी तुम बार-बार जाने को कह रहे हो, किन्तु चित्त चाहता नहीं तुमसे पृथक् हुआ जाय, तुम्हारे जाने की बात का स्मरण आते ही हृदय फटने लगता है।"

गद्‌गद् वाणी से प्रेम भरित हृदय से नन्दजी बोले—"भैया ! एक दिन तो पृथक् होना ही है। अब इस मोह ममता को छोडिये।"

वसुदेवजी बोले—"नन्दजी ! आप सत्य कहते हैं। स्नेह का परिणाम विरह ही है सूनी प्रकृति के लोगों को विरहजन्य दुःख नहीं सताता। उन्हें विरह होता भी है तो क्षण भर में समाप्त हो

जाता है, जैसे सूखी बत्ती क्षण भर मे जलकर भस्म हो जाती है। किन्तु जिस बत्ती मे स्नेह (तेल, घृतादि) रहता है, वह शनै-शनैः रात्रि दिन जलती रहती है। इसी प्रकार स्नेही का हृदय रात्रि दिन जलता रहता है। विधाता ने नर-नारियो के हृदय मे स्नेह रूपी ऐसा जाल लगा दिया है, कि उसे छोड़ना बड़ा कठिन है। साधारण लोगो की बात तो पृथक रही हम देखते हैं, स्नेह के फन्दे मे बड़े-बड़े योगी फँस जाते हैं। घर से स्त्री, बच्चो का, कुटुम्ब परिवार का मोह छोड़कर आते हैं, फिर किसी के प्रेम पाश मे फँस जाते हैं। सज्जन पुरुष तो अपनी सज्जनता से ही दूसरो को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, किन्तु यदि उन सज्जनों ने किन्हीं के साथ महान् उपकार भी किया हो, तो फिर हम जैसा कैसा भी कृतघ्न क्यो न हो, उसकी आँखें ऊँची उठ ही नहीं सकती। सज्जनों का तो परोपकार करना स्वभाव ही होता है, वे उसे कुछ भी नहीं समझते, किन्तु जो अत्यन्त कृतघ्न नहीं हैं, वे उनके उस परोपकार को जीवन पर्यन्त नहीं भूल सकते।

आप साधुशिरोमणि हैं, आपने हमारे साथ अनुपम मित्रता प्रदर्शित की है। हम यद्यपि उसका कुछ भी प्रत्युपकार नहीं कर सके हैं, फिर भी आप से जो दृढ़ सम्बन्ध हमारा जुड़ा था और अब और अधिक जुड गया है, वह अटल है, कभी टूट नहीं सकता।"

अपने आँसुओं को पोंछते हुए नन्दजी बोले—"भैया! प्रत्युपकार का प्रश्न तो पराये लोगों मे उठता है। घर वालों मे क्या उपकार और क्या प्रत्युपकार घर मे एक भाई कमाता है, चार खाते हैं। इसमें न तो कमाने वाला उपकार कर रहा है न तो खाने वालों के मन मे प्रत्युपकार की भावना उठती है। सब अपने अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।"

वसुदेवजी ने कहा—"मैं तो अपने कर्तव्य का भी पालन न कर सका। जब मैं बन्दीगृह मे था, तब तो परवश था, कुछ कर्तव्य का पालन कर ही नहीं सकता था। जब कंस मर गया और हम कारावास से स्वतन्त्र हुए, कुछ करने योग्य हुए। धन वैभव वाले हुए तो हमे धन का मद छा गया। जिसे धनमद हो जाता है, वह आँखों के रहते हुए उसी प्रकार सम्मुख खड़े पुरुषों को नहीं देख सकता, जिस प्रकार जाले चढ़ी आँखों वाला पुरुष अपने सम्मुख की वस्तुओं को नहीं देखता। यह धन का मद बड़ा बुरा है, इसलिये शास्त्रकारों ने बार-बार इस बात पर बल दिया है, कि कल्याण की कामना करने वाले पुरुष को धन वैभव के लोभ मे कभी न फँसना चाहिये। मेरी तो भगवान् के पादपद्मों मे यहीप्रार्थना है, कि वे अपने अनन्य भक्तों को राजलक्ष्मी से दूर ही रखें। क्योंकि लक्ष्मी के मद से अन्धा हुआ पुरुष अपने अनुगामी, सगे सम्बन्धी तथा बन्धु बान्धवों को सम्मुख रहते हुए भी नहीं देखता। सो भैया! जब हम असमर्थ थे, तब विवश थे, जब समर्थ हुए, तो धनमद से अंधे हो गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी की ऐसी करुणापूर्ण बातें सुनकर नन्दजी रोने लगे। इधर वसुदेवजी भी नन्दजी के सौहार्द्र का स्मरण करके प्रेम की प्रबलता से गद्‌गद् हृदय हो जाने के कारण रोने लगे। उस दिन नन्दजी जाने वाले थे, नहीं गये। और भी दो चार दिन रह गये। अन्त मे विदाई का दिन आ ही गया। चैत्र से ज्येष्ठ तक सब वहाँ साथ साथ रहे, अब वर्षा भी समीप आ गयी थी, अतः अब यादव भी जाना चाहते थे। निश्चय हुआ कल अवश्य व्रजवासी व्रज को जायँगे इस समाचार से विचित्र उदासी छा गयी।"

दूसरे दिन गोपों ने अपना सब सामान छकड़ों मे लादा। वसुदेवजी, महाराज उग्रसेन, भगवान श्रीकृष्णचन्द्र, उद्धवजी

पूर्ण था, गोप गोपी रो रहे थे। नन्द-यशोदा राम और कृष्ण को बार-बार छाती से चिपटाते और अपने नयनों के जल से उनके बालों और वस्त्रों को भिगो देते। श्री कृष्ण की मधुर मूर्ति निहार-निहारकर गोपियाँ ढाह मारकर रो रही थीं उनकी हिचकियाँ बँध रही थीं। श्यामसुन्दर के नयनों से भी निरन्तर नीर निकल रहा था। जैसे तैसे सबसे मिल भेंटकर अपने मन को श्री कृष्ण-चन्द्र के चरणों में ही छोड़कर वे शरीर को लेकर व्रजमंडल की ओर चल दिये और कुछ ही दिनों में मथुरा वृन्दावन में आ गये।

इधर अपने और सब बन्धु बान्धवों से विदा लेकर श्री कृष्णचन्द्र को ही सर्वस्व समझने वाले यादव भी वर्षा ऋतु समीप आयी समझकर द्वारकापुरी को चल दिये और कुछ ही दिनों में आनर्तदेशों की राजधानी कुशस्थली में पहुँच गये। वहाँ आकर उन्होंने यज्ञ के बन्धुबान्धवों के मिलने के बाद गोप गोपियों के सम्मिलन के सभी समाचार सुनाये।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! कुरुक्षेत्र में भगवान का ऐसा वैभव देखकर तथा ऋषि मुनियों द्वारा भगवान् की स्तुति सुनकर जिस प्रकार वसुदेवजी और देवकीजी ने उनकी भगवत्ता के सम्बन्ध में कहा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गोपी गोपनि हृदय प्रेमतैं अति भरि आये।
मन हरि चरननि छोरि मधुपुरी तनतैं धाये॥
इत यादव सजि सैन द्वारका महँ आये जब।
कही कथा जो भई मिले ज्यों व्रजवासी सब॥
मिले रहत वल्लभ सदा, गोपिनि हिय महँ बसहिँ नित।
मिलन भयो कुरुक्षेत्र महँ, भयो न व्रज सम मन मुदित॥

—:—

वसुदेवजी को आत्म ज्ञान

[११८०]

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् संकर्षण सनातन !
जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधान पुरुषौ परौ ॥※
(श्री भा० १० स्क० ८५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

एक दिवस बल श्याम गये निज पितु के पाहीं ।
निरखि ज्ञान जिह भयो पुत्र मेरे ये नाहीं ॥
ऋषि मुनि भीषम व्यास इन्हें सर्वेश बतावें ।
मानि मोइ निज जनक आई पद शीश नवावें ॥
बोले—*तुम दोनों सकल, या जगके आधार हो ।*
अज, अच्युत, अक्षर, अजित, अखिलेश्वर अवतार हो ॥

जीव की जब भी भिन्न धी नष्ट हो जाय तभी उसे शाश्वती शान्ति प्राप्त हो जाती है, तभी यह परम प्रसन्न हो जाता है। विना भेदभाव के माधुर्य रस का आस्वादन नहीं होता। भेदभाव नष्ट होने पर सर्वत्र एक ही तत्त्व दिखायी देने लगता है। सर्व भूतों

※ श्री शुकदेवजी कहते हैं—'राजन ! वसुदेवजी की सर्व भगवद् बुद्धि होने पर वे भगवान श्री कृष्णचन्द्र और बलरामजी से कह रहे हैं—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे सनातनपुरुष संकर्षण ! मैं आप दोनों को जगत् के कारण रूप प्रधान और पुरुष का भी कारण समझता हूँ।'

में आत्मा एक रूप से दीखती है, तथा अपने में सर्वभूत दिखायी देते हैं। सब भूतों में भगवान् ही दिखायी दें, चराचर जगत् में भगवद् दृष्टि हो जाय, तो सभी सम्बन्ध छिन्न भिन्न हो जाता है अथवा सब सम्बन्धों का समावेश सर्वेश्वर में ही हो जाता है। वह दशा जब प्राप्त हो जाती है, तब शोक, मोह, भ्रम तथा भय सभी भाग जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! द्वारका में रहते हुए भगवान् नरनाट्य कर रहे थे। सब दिनों की भाँति एक दिन भगवान् अपने बड़े भाई सकर्षणावतार बलरामजी के साथ अपने पूज्य पिता वसुदेवजी के समीप गये। उस समय वसुदेवजी शुद्ध सत्व में स्थित होकर जगत् के विषय में ऊहापोह कर रहे थे। उसी समय श्याम और बलराम ने आकर पिता के पादपद्मों में प्रणाम किया। दोनों के प्रणाम करने पर वसुदेवजी ने प्रसन्नतापूर्वक उनका अभिनन्दन किया, दोनों को अपने समीप ही सुखपूर्वक बिठा लिया।

राम श्याम जब वसुदेवजी के समीप बैठ गये, तब वसुदेवजी को वे सब बातें याद आयीं जो ऋषियों ने भगवान् के सम्बन्ध में कही थीं। बड़े बड़े कल्पजीवी, ज्ञानी, ऋषि महर्षियों ने ब्रह्मभाव से भगवान् की स्तुति की थी। विश्वामित्र, वसिष्ठ, परशुराम, नारद तथा अन्यान्य ब्रह्मज्ञानी राम कृष्ण को अवतार मानकर इनकी विनती करते थे, उनके पादपद्मों में प्रणाम करते थे, फिर इनके पराक्रम भी अलौकिक हैं। अवश्य ही ये ईश्वर हैं, ये नररूप रखकर क्रीडा कर रहे हैं। इस प्रकार का विश्वास होने पर वसुदेवजी का संकोच दूर हो गया, अतः वे अपने दोनों पुत्रों को सम्बोधित करते हुए बोले—"हे जगत् को अपनी ओर आकर्षित करने वाले कृष्ण! तुम समस्त योगियों के आराध्य हो। हे सकर्षण! तुम भी अपनी ओर सबको खींचते हो।

तुम महान् बलशाली हो, योगिजन आप में रमण करते हैं इसलिये आप 'राम' कहाते हैं, मैं तुमसे आज कुछ कहना चाहता हूँ।"

भगवान् बोले—"कहिये पिताजी ! आप जो कहना चाहते हैं अवश्य कहें, कहीं बच्चों से भी ऐसे पूछा जाता है ?"

वसुदेवजी ने कहा—"आप दोनों बच्चे नहीं। सबके पितामह हैं। इस दृश्य जगत् के कारण अर्थात् जनक तो प्रधान और पुरुष हैं। प्रधान पुरुष से ही इस सम्पूर्ण चराचर की उत्पत्ति है, किन्तु आप तो इनके भी कारण हैं। संसार में, कर्ता, कारण, संप्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण ये छे ही कारक हैं। आप इन सब कारकों के भी कारक हैं। जगत् में जहाँ पर, जिसके द्वारा, जिससे, जिसका, जिसके लिए, जो-जो भी कार्य, जिस-जिस प्रकार, जिस-जिस स्थान पर, जिस जिस समय होता है वह सब प्रधान और पुरुष के संयोग से ही होता है, उनके भी आप स्वामी हैं, प्रभु हैं, सर्वस्व हैं।"

बलरामजी ने कहा—"पिताजी ! आप ये कैसी बात कह रहे हैं, जगत् में जो चैतन्य दीखता है, वह जीव और प्राणों के द्वारा है। जीवों मे जब प्राण शक्ति का संचार होता है, तो उनमें जीवन आ जाता है, प्राण निकल जाते हैं शरीर निर्जीव हो जाता है।"

वसुदेवजी ने कहा—"हे बलराम ! तुम मुझे भुलाओ मत। मैं अब तक भूला हुआ था, किन्तु कुरुक्षेत्र में ऋषियों ने मेरे अज्ञानान्धकार को दूर कर दिया। उनकी कृपा से मैं आपके यथार्थ रूप को समझ सका। हे अधोक्षज ! आप इस जगत् को अपने संकल्प से ही रचते हो। इस चित्र-विचित्र ससार को रचकर अपने चैतन्य-स्वरूप से स्वयं ही इसमे प्रवेश कर जाते हो। आप अज होकर भी जीव और प्राणरूप से इस जगत् को धारण किये हुए हो। अपनी क्रिया शक्ति से इस दृश्य जगत् को आप उत्पन्न करते हैं।

प्राणों में जो प्रीणन करने की शक्ति है उसके भी परम कारण आप ही परमात्मा हैं। जड़ जगत् तुम्हारी चेतना के बिना कुछ भी कर नहीं सकता। प्रकाशित भी नहीं हो सकता। तुम ही आलोक प्रदान करते हो। मन, प्राण आदि तो अचेतन है। आप चैतन्यघन है। भला आप ही बताइये अचेतन आप चेतन के सदृश कैसे हो सकते हैं? प्राण स्वतः अचेतन हैं। परमात्मारूप से आप उनमें प्रेरणा करते है, तभी वे कुछ क्रिया करने मे समर्थ होते हैं। उनकी जितनी चेष्टायें हैं ये केवल चेष्टा मात्र ही हैं। उनमें कार्य करने की शक्ति आप परमेश्वर की ही है।"

बलदेवजी ने कहा—"पिताजी! सबमे चैतन्य तो पृथक्-पृथक् है।"

वसुदेवजी ने कहा—"नहीं, पृथक्ता तो बाह्य दृष्टि से दीखती है। लकड़ी का टेढ़ा, मेढ़ा, गोल, लम्बा जैसा भी आकार होगा वैसी ही अग्नि दीखने लगेगी। अग्नि सबमें मे एक-सी ही है। जब आप चन्द्रमा मे प्रकाश देते है, तो कान्तिरूप से वह प्रकाशित होने लगता है। अग्नि मे तेज रूप से आप ही विद्यमान् हैं। सूर्य की प्रभा आप ही हैं। बिजली में जो चमक और स्फुरण दिखाई देता है, वह आप ही हैं। पर्वतों मे जो स्थिरता है, वह आपकी ही शक्ति है। पृथ्वी में धारण करने की शक्ति आपने ही प्रदान की है। पृथ्वी मे जो गंध गुण है वह आपका ही दिया हुआ है। दिया हुआ क्या है आप ही तद्-तद् शक्तियों का रूप रखकर इन सबमें प्रतिष्ठ हो गये हैं।"

बलदेवजी ने कहा—"समस्त भूतों मे विचित्र शक्तियाँ हैं, नाना प्रकार के गुण हैं, उन्हीं के कारण तो वे जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होते हैं।"

वसुदेवजी ने कहा—"वे समर्थ कहाँ होते हैं। सबमें गुण

देने वाले, शक्ति संचार करने वाले तो आप ही हैं। पृथ्वी में गंध गुण आप ही हैं, उसमे जो धारण करने की शक्ति है वह भी आप से ही प्राप्त है। जल मे सरसता, माधुर्य, तृप्त करने और पवित्र करने की शक्ति आप ही हैं। अग्नि मे उष्णता, दाहक शक्ति, वायु में चलने की शक्ति, स्पर्श, गुण तथा सह, वल और ओज आप ही हैं। आकाश में शब्द, गुण तथा अवकाश देने की शक्ति आपसे ही है। दशों दिशाओं में आप ही व्याप्त हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी रूप मे आप ही सब कुछ कर रहे हैं। देखना, सूँघना, बोलना, स्वाद लेना, सुनना, छूना, उठाना, धरना, पकड़ना, छोड़ना, चलना, फिरना, सुखानुभव करना, मल मूत्र का त्यागना तथा और भी जो इन्द्रियों के विषय हैं उन्हे प्रकाशित करने वाले आप ही हैं। सूर्य, अग्नि, अश्वनी-कुमार, वरुण, दिशा, वायु, इन्द्र, विष्णु, प्रजापति तथा निऋति आदि इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव भी आप ही हैं। जिस शक्ति से वुद्धि कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करती है, वह शक्ति भी आप ही हैं। आप दोनों इस जगत् के कारण हैं। कार्य के नष्ट होने पर कारण का नाश नहीं होता उसका अस्तित्व तो वना रहता है। जैसे घट, सकोरा, नाँद, हँड़िया, परिया, कुल्हड़ जब तक मृत्तिका से नहीं बने थे, तब तक भी मृत्तिका थी, इन सबके निर्माण हो जाने पर भी उन सब मे मृत्तिका भीतर बाहर सर्वत्र विद्यमान रही। उनके नष्ट होने पर मृत्तिका नष्ट नहीं हुई वह ज्यों की त्यों बनी रही और कालान्तर मे अपने पूर्व रूप में तन्मय हो गयी। कुण्डल, कंकण, कर्णभूषण तथा आंगलीय आदि आभूषणों के पूर्व भी सुवर्ण था, इनके बन जाने पर भी सुवर्ण बना रहा, टूट-फूट जाने पर सुवर्ण नहीं टूटा फूटा। वह ज्यों का त्यों बना रहा। इसी प्रकार नश्वर पदार्थों में उनके कारण रूप आप अविनाशी और नित्य तत्त्व है। ये जो सत्त्व, रज और तम तीनों

गुण हैं और इनकी समस्त वृत्तियाँ महत्तत्वादि योगमाया से आप मायेश परब्रह्म में कल्पित हैं। वास्तव में तो ये भाव आप में हैं ही नहीं। इन सबकी केवल कल्पना की गयी है। आप इन सब विकारों में कारण रूप से अनुगत प्रतीत होते हैं।

संसार का इन गुणों का प्रवाह अनादि काल से ऐसे ही चल रहा है। जो लोग आपको सूक्ष्मगति को नहीं जानते, आपके ज्ञान से अनभिज्ञ हैं वे ही अपने कर्मों के अनुसार, कर्मसूत्र में निबद्ध होकर, जन्म-मरण रूप संसार चक्र में फँसकर पुनः पुनः जन्मते हैं, पुनः-पुनः मरते हैं।"

बलरामजी ने कहा—"पिताजी! न जाने आपको क्या हो गया है। आज कैसी बातें आप कर रहे हैं, हम बच्चों के आगे ऐसी गूढ़ ज्ञानयुक्त बातें बिना पूछे क्यों बता रहे हैं? आप तो हमसे बड़े हैं।"

वसुदेवजी ने कहा—"प्रभो! आप से कोई बड़ा नहीं है। आप सबसे बड़े हैं। सबसे छोटा तो मैं हूँ। मुझे मेरे प्रारब्धवश समस्त इन्द्रियादि सामर्थ्य से युक्त सुन्दर निरोग देह प्राप्त हुआ। उसका भी मैं सदुपयोग न कर सका। उसे भी मैंने व्यर्थ में ही बिता दिया। व्यर्थ के कामों में ही समय को नष्ट किया। माया के वशीभूत होकर मैं अपने वास्तविक स्वार्थ में असावधान बना रहा। कालरूप आप तो निरन्तर अव्याहत गति से चलते हैं। कभी रुकते नहीं। मैं विषयों में फँस गया। मेरी इतनी आयु निरर्थक चली गयी। मैं इस पंचभूतों से बने शरीर को ही सब कुछ समझता था। मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, इस तू तू मैं मैं में ही फँस गया। यह मेरा घर है, ये मेरे बाल बच्चे हैं, ये मेरे सगे सम्बन्धी हैं इस प्रकार के अभिमान में फँस जाने में अपनी वास्तविकता को खो बैठा।"

इसमें दोष भी किसे दिया जाय। आपने ही अभिमान रूप

स्नेह पाश से इस चराचर जगत् को बाँध रखा है। आपकी यह दुरत्यया दैवीमाया ही सबको नाक मे नकेल डालकर नचा रही है।

इस पर श्यामसुन्दर बोले—"पिताजी! आप यह कह क्या रहे हैं, हम तो आपके पाल्य हैं। हम तो आपके बच्चे हैं।"

वसुदेवजी बोले—"हाँ, आप बच्चे भी हैं, वृद्ध भी हैं। सब आप ही हैं। आप अजन्मा हैं। फिर भी पृथ्वी के भारभूत राजाओं के मारने के निमित्त आपने अवतार धारण किया है। आप मुझे भुलावें नहीं। अब तक तो मैं भूला ही रहा। आपने तो अवतार लेते ही अपना चतुर्भुज रूप दिखाया था और आपने अपने अवतार का प्रयोजन भी बताया था, किन्तु हम ऐसे मूढ निकले कि सब भूल गये। अब आपकी ही कृपा से हमें आपके यथार्थ रूप का ज्ञान हो गया है। अब हे कृपालो! हे अशरण शरण! हे दीनबन्धो! ऐसी दया करो कि मुझे ससार भय से मुक्त करने वाले आपके चरणारविन्द सदा मिलते रहें। मैं आपकी शरण हूँ। इन इन्द्रियों के पीछे भटकते-भटकते मैं थक गया। इनकी कभी तृप्ति ही नहीं होती। इन्द्रिय विषयों के पीछे पडा प्राणी अपने यथार्थ लक्ष्य को भूल जाता है। तभी तो मैंने इस अनित्य, क्षणभगुर, नाशवान, मरणशील शरीर में आत्मबुद्धि कर ली। दूसरी बडी भारी भूल [illegible] हुई कि आप अखिल कोटिनायक परब्रह्म मे मैंने पुत्र बुद्धि कर ली। जन्म लेते ही आपने मुझे बताया था कि [illegible] होकर भी आपने तीन बार हमारे यहाँ युग-युग में [illegible] अवतार लिये हैं। आप न तो कर्मों के बन्धनों में बँधते हैं और न कर्मों के कारण जन्म लेते हैं, आप तो अपनी इच्छा से [illegible] अनेक शरीर धारण कर लेते हैं [illegible] फिर जब इच्छा होती है [illegible]

आपकी विभूति रूपिणी माया के यथार्थ तत्त्व जानने की सामर्थ्य किसमें है ? आपका वास्तविक ज्ञान किसे हो सकता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब सर्वत्र भगवद् दृष्टि हो जाने के कारण वसुदेवजी ने अपने राम श्याम दोनों पुत्रों से ऐसे गूढ, ज्ञानयुक्त वचन कहे, तो उन्हें सुनकर श्यामसुन्दर खिलखिला कर हँस पड़े। भगवान् का हास्य ही तो जनोन्मादकरी माया है। भगवान् जहाँ हँस जाते हैं, वहाँ सब विमोहित हो जाते। इस प्रकार वसुदेवजी को माधुर्य के निमित्त मोहते हुए अत्यन्त मधुर वाणी से बोले—पिताजी ! हम आपका भाव समझ गये। आप ने एक निमित्त बनाकर हम पुत्रों को यह गूढ़ ज्ञानतत्त्व का उपदेश दिया है। आपका कथन सर्वथा युक्तिसंगत है। वास्तव में यही तत्त्वोपदेश है। आप हमें ईश्वर बता रहे हैं, किन्तु आप बताने वाले कौन हैं, इसे भी तो सोचिये। आप भी वही हैं, मैं भी वही हूँ, बड़े भाई बलरामजी भी वही हैं। कहाँ तक कहूँ ये सम्पूर्ण द्वारावती निवासी, द्वारका निवासी ही नहीं, सम्पूर्ण निखिल ब्रह्माण्ड में यावन्मात्र चराचर प्राणी हैं सभी भगवत्स्वरूप हैं। ऐसी ही बुद्धि सर्वदा रखनी चाहिये। सबमें भगवान् को व्याप्त समझकर सबका मान करना चाहिये, सबकी वन्दना करनी चाहिये, सबको साष्टांग प्रणाम करना चाहिये। आप देखें, ये पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश पाँच महाभूत हैं। ये जगत् को रचने के कारण हैं, पृथ्वी की नाना प्रकार की छोटी, बड़ी, लम्बी, चौड़ी, भारी तथा हलकी वस्तुएँ बनती हैं। जल के भी समुद्र, सरिता, तालाब, पुष्करणी, कूप तथा गड्ढे आदि होते हैं। अग्नि के भी कारणवश बहुत भेद हो जाते हैं। वायु छोटे बड़े स्थानों में अधिक कम भर जाती है। आकाश भी घटाकाश, मठाकाश आदि भेद से छोटा बड़ा सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार नित्य, निर्गुण, स्वय प्रकाश आत्मा अपने ही रचे हुए

महत्तत्त्व, अहतत्त्व तथा इन्द्रियादि गुणों द्वारा, उनके कार्यरूप मनुष्यादि देहों में यद्यपि एक है, अद्वितीय है। फिर भी मनुष्यादि शरीरों में एक होकर भी अनेक सा तथा अन्य-सा प्रतीत होता है। यह सब आत्मा का ही पसारा है। आत्मा ही नाना रूपों में भासकर जगत् में नानारूप में दृष्टिगोचर हो रहा है।"

सूतजी कह रहे हैं "मुनियो! भगवान् के ऐसे गूढवचन कहने पर तथा उनकी बताया हुयी आत्मा की सर्वव्यापकता सुनने पर वसुदेवजी की भेद बुद्धि नष्ट हो गयी। सर्वत्र भगवद् दृष्टि हो जाने पर वसुदेवजी को परम प्रसन्नता हुई। वे कृतकृत्य हो गये। मारे प्रसन्नता के वे मौन हो गये। अब जिस प्रकार देवकीजी अपने मृतक पुत्रों को लाने के लिये राम श्याम से कहेंगी, उस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

मो पै किरपा करो शरन तुमरी हौं आयो।
इन्द्रिय विषयनि फँस्यो समय सब व्यर्थ गँवायो॥
सुनिके पितुके बचन श्यामसुन्दर सकुचाये।
आत्मज्ञानयुत मधुर, विहँसि वर वचन सुनाये॥
सब भगवत् के रूप हैं, मैं तुम बल ये चराचर।
आत्मा अद्वय एक रस, नित्य निरजन परावर॥

देवकीजी को अपने मृत पुत्रों के दर्शन

[११८१]

तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।
भोजराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ८५ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

सुनि हरिको उपदेश भये वसुदेव सुखारे ।
तबईं आई मातु मुदित बल श्याम निहारे ॥
बोली माता—प्रथम मृतक गुरु सुत तुम आन्यो ।
योगेश्वर तुम उभय मुनिनि तैं मन महँ जान्यो ॥
मेरे छै सुत कंसने, जनमत मारे सुघर सब ।
तुम समर्थ सर्वज्ञ हो, तिनिहिँ दिखाओ लाइ अब ॥

मातृहृदय एक ऐसी जटिल पहेली है कि उसका समुचित ज्ञान अभी तक किसी को हुआ नहीं। माता का अपनी सन्तान के प्रति कितना अनुराग होता है, इसकी उपमा खोजी जाय तो यही कहा जायगा जितना जननी का अपने बच्चे के प्रति प्रेम होता

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने मृत पुत्रों को देखने की इच्छा से माता देवकी श्री कृष्णचन्द्र और बलरामजी से कहने लगी—भैया तुम दोनों योगेश्वर हो। जैसे तुम अपने मृतक गुरु पुत्र को लाकर उनकी इच्छा पूर्ण की थी, वैसे ही मेरी इच्छा को पूर्ण करो। भोजराज कंस ने मेरे जिन बच्चों को मार डाला था उन्हें मैं देखना चाहती हूँ, उन्हें तुम ले आओ।"

है, इसका दूसरा उदाहरण मिलता ही नहीं। एक बार जिस माता ने नौ महीना अपने गर्भ में धारण कर लिया, वह फिर उत्पन्न होकर कहीं चला जाय, कहीं पले पोसे, इस लोक में रहे या परलोक में, उसे वह भूल नहीं सकता। जैसे किसी की बीसों उँगलियों में से छोटी सी छोटी उँगली को काट दो, उसे कटने पर पीडा उतनी ही होगी, जितनी बडी उँगली के कटने पर और जीवनपर्यन्त वह कटी उँगली याद आती रहेगी। सन्तान माता का दूसरा हृदय होता है, तभी तो गर्भवती स्त्री को द्विहृदया कहते हैं। कोई माता से कहे कि संसार में तुझे सबसे प्रिय वस्तु कौन है, तो वह अपनी सन्तान को बतावेगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी में तथा राम श्याम में ऐसी बातें हो रहीं थीं, उसे सर्वदेवमयी भगवती देवकीजी ने भी सुना। उन्होंने कुरुक्षेत्र के मख में महर्षियों के मुखों से यह बात बार बार सुनी थी कि ये राम श्याम अवतार हैं। आज अपने पति को भी देखा वे अपने पुत्रों की परमात्म बुद्धि से स्तुति कर रहे हैं, तो उन्होंने भी सोचा—"जब ये मेरे पुत्र ईश्वर हैं। सर्व समर्थ हैं, तो मैं भी इनसे कुछ मागूँ।" फिर सोचने लगीं—मैं इनसे क्या मागूँ, मेरे धन, धान्य है, किसी वस्तु की कमी नहीं। उसी समय उन्हें अपने उन छोटे-छोटे सुतों की स्मृति हो आई जिन्हें कंस ने जन्म लेते ही मार डाला था। उनकी स्मृति आते ही माता का हृदय भर आया। वे सोचने लगीं—"क्यों न मैं इन राम श्याम से अपने उन मृतक पुत्रों को ही लाने के लिये कहूँ।" मैंने सुना है, जब ये अवन्तिका नगरी में पढते थे तब अपने गुरु सान्दीपिनी मुनि के मृतक पुत्रों को ये जाकर यमलोक से ले आये थे और उन बच्चों को ज्यों का त्यों देकर वे गुरुदक्षिणा के ऋण से उऋण हुए थे। क्यों न इनसे अपने उन मृतक पुत्रों को लाने के लिये कहूँ।'

यही सब सोचकर एक दिन माता ने एकान्त में राम श्याम से कहा—"देखो, मैंने सुना है, तुम दोनों ईश्वर हो, सर्वसमर्थ हो मेरा भी एक काम करोगे ?" यह कहकर पुत्रों का स्मरण हो आने से माता अत्यन्त ही शोकाकुल हुईं। हृदय भर आने से विकलता बढ गयी और नेत्रों से झर-झर आँसू बहने लगे।

माता को अत्यन्त शोकाकुल देखकर श्यामसुन्दर ने उन्हें धर्य बँधाते हुए कहा—"माताजी ! आप ऐसी व्याकुल क्यों हो रही हैं। मुझे अपने दुःख का कारण बताओ। उस पुत्र के लिये धिक्कार है, जो समर्थ होते हुए भी माता पिता के दुःख को नहीं मेटता। आप इतनी दुखी किस कारण से हो रही हैं ?"

सिसकियाँ भरते हुए तथा बार बार आँसुओं को पोंछते हुए माता भगवान् श्यामसुन्दर तथा बलराम से कहने लगीं—"हे अप्रमेयात्मन् राम ! हे योगेश्वरों के भी ईश्वर श्री कृष्ण ! मैंने ऋषियों के मुख से सुना है और मुझे भी इस बात पर पूर्ण विश्वास हो गया है कि आप समस्त प्रजापतियों के भी पति हैं। आप आदि पुरुष श्री मन्नारायण हैं।"

भगवान् बोले—"माताजी ! आप को भी पिताजी की भाँति क्या हो गया है। उस दिन पिताजी भी ऐसे ही कह रहे थे। हम आपके पुत्र हैं। आपकी कोख से हमने जन्म लिया है।"

देवकी माँ बोली "प्रभो ! आप किसी के भी पुत्र नहीं हैं। आपने तो भूमि का भार उतारने के लिये अवतार धारण किया है। जो असुर होकर भी राजाओं के रूप में धराधाम पर उत्पन्न हुए हैं, जो शास्त्र मार्ग का उल्लङ्घन करके वर्ताव करते हैं, जो अपने प्राणों को ही तृप्त करने को परम पुरुषार्थ समझते हैं, अब जिनका पुण्यमय पुरुषार्थ समाप्त हो गया। ऐसे राजारूप असुरों का विनाश करके भू का भार उतारने आप दोनों अपनी इच्छा से

अवनि पर मेरे गर्भ से अवतरित हुए हैं। आप स्वयं इस जगत् को नहीं बनाते। आपकी माया के अशांश से उत्पन्न इन त्रिगुणों से ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्च की रचना हो जाती है। हे प्रभो! आप मेरी भी इच्छा पूर्ण करें। मेरे ऊपर भी कृपा करें, मैं आपकी शरण मे हूँ।"

भगवान ने कहा—"माताजी! आप इतनी बड़ी भूमिका किसलिये बाँध रही हैं? बात बताइये मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ।"

माताजी ने कहा—"हे योगेश्वरों के भी ईश्वर! देखो, जब तक तुम्हारा अवतार नहीं हुआ था, उसके पूर्व ही मेरे गर्भ से छै पुत्र उत्पन्न हुए थे। उन सबको मेरे भाई दुष्ट कंस ने जन्म लेते ही मार डाला। मै आपने उन्हीं पुत्रों को देखना चाहती हूँ।"

भगवान् ने बनावटी आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"माताजी! आप कैसी बातें कर रही हैं। भला, मरा हुआ आदमी फिर लौटकर कैसे आ सकता है?"

दीनता के स्वर में माता देवकीजी ने कहा—"प्रभो! आप मुझे भुलावा न दे। मैं सब जानती हूँ, आपके लिये असभव कुछ भी नहीं। मैंने आपके सम्बन्ध मे सुन रखा है। जब तुम दोनो अवन्तिकापुरी मे आचार्य श्री सान्दीपिनी गुरु के निकट पढ़ते थे, तब आपने उनसे गुरुदक्षिणा माँगने को कहा। उन्होंने आपको अपनी पत्नी के पास भेज दिया। गुरुपत्नी ने आप से गुरु-दक्षिणा में बहुत पहिले मरे हुए पुत्र की याचना की। तब आप दोनों यमराज के यहाँ गये और उनके पुत्र को लाकर गुरुदक्षिणा रूप में उसे देकर गुरुदक्षिणा के ऋण से उऋण हुए। उसी प्रकार कंस द्वारा मारे गये मेरे पुत्रों को भी ले आओ। मैं अपने उन बच्चों को एक बार देखना चाहती हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब जननी ने बहुत प्रकार से

अनुनय विनय की, तब भक्तवांछाकल्पतरु भगवान अपने बड़े भाई बलराम के सहित सुतललोक में गये। जहाँ असुरों के महाराज बलि निवास करते हैं। दैत्यराज बलि ने जब देखा मेरे लोक को अपने पादपद्मों की पावन पराग से पवित्र बनाते हुये परमेश्वर पधारे हैं, तो उन्होंने सपरिवार श्री कृष्णचन्द्र और बलरामजी के चरणारविन्दो मे श्रद्धा भक्ति सहित प्रणाम किया। दोनों के देवदुर्लभ दर्शनो से आनन्द मे निमग्न होकर उनकी चरणरज मस्तकपर धारण की। अति प्रसन्न चित्त से दोनो को सुन्दर सिंहासन बैठने के लिये दिये।

जब दोनों भाई सुखपूर्वक बैठ गये, तो महाराज बलि उनकी पूजा करने के लिये प्रस्तुत हुए। भगवान् के दर्शनो से और उनके स्वय अपने लोक मे पधारने के हर्ष से महाराज बलि के आनन्द की सीमा नहीं थी वे इतने प्रसन्न थे कि उनका हृदय धक धक कर रहा था। जैसे तैसे उन्होंने सुवर्ण की झारी से सुवर्ण की थारी में उनके चरणों को धोकर चरणामृत लिया। गगाजी जिन चरणों से निकल कर ब्रह्माजी से कीट पर्यन्त सभी को पावन बनाती हैं, जिन चरणों को सदा कमला अपने करकमलो से प्रेम पूर्वक लपोटती रहती हैं। उन्हीं चरणारविन्दों को पखारकर उस पावनपय को दैत्यराज ने सकुटुम्ब मस्तक पर धारण किया। फिर अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय जल देकर वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुगीफल, तथा अन्यान्य फल समर्पित किये। नाना प्रकार के षडरस व्यजनो से उन्हें श्रद्धा सहित भोजन कराया। फिर पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, शरीर तथा सर्वस्व को राम कृष्ण के पादपद्मों में अर्पित किया। तदन्तर प्रेमार्द्र चित्त से प्रभु के पादपद्मों को पकड़कर स्तुति करने लगे। उस समय उनके युगल नयनों से प्रेम के अश्रु झर-झर करके झर रहे थे। सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था। गद्गद

वाणी से उन्होंने अत्यन्त ही मार्मिक वचनों से दोनों ईश्वरों की स्तुति की। और स्तुति के अन्त में कहा—"प्रभो! आप हमें ऐसा उपदेश दें, जिनसे इन सांसारिक बन्धनों से हम मुक्त हो जायँ।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! तुम तो मेरे परमभक्त हो। तुम्हें तो संसारी बन्धन है ही नहीं। इस समय मैं तुम्हारे यहाँ एक विशेष कार्य से आया हूँ।"

महाराज बलि ने कहा—"आज्ञा कीजिये, भगवन्!"

भगवान् बोले—"राजन्! तुम्हारे यहाँ छे असुर हैं, उन्हें हम ले जाना चाहते हैं।"

बलि ने पूछा—"प्रभो! वे छै असुर कौन हैं, आप उन्हें कहाँ ले जायँगे! उनका परिचय मुझे दीजिये।"

भगवान् ने कहा—"इसी प्रथम स्वायम्भुवमन्वन्तर में महर्षि मरीचि की ऊर्णा नाम की स्त्री से छै पुत्र उत्पन हुए। उनके नाम स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतग, क्षुद्रभृद्, और घृणी ये थे। ये ऋषिकुमार बड़े शान्त संयमी, तथा सदाचारी थे। वे सबके सब ऋषिकुमार देवकुमारों के समान सुन्दर थे। भगवान् प्रजापति का जब सरस्वती को देखकर चित्त चचल हो उठा, तो ये अपने सदाचार के अभिमान मे भरकर उनके ऊपर हँसने लगे। भगवान् पितामह का अभिमानवश उन्होंने परिहास किया। इसलिये भगवान् ब्रह्मा ने उन्हें शाप दिया कि तुम असुर हो जाओ।"

शाप सुनते ही उनका अभिमान कपूर की भाँति उड गया। उन्होंने पितामह के पादपद्मों में प्रणाम करके अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी। तब ब्रह्माजी ने कहा—"अच्छा, आसुरी योनि तो तुम्हें मिलेगी ही, किन्तु एक बार मनुष्य योनि मे जाकर तुम फिर असुरलोक में आ जाओगे जब भगवान् तुम्हें अपनी माता के समीप ले जाकर अपना पीतशेष पय पिला देंगे, तभी तुम अपने ऋषिलोक को चले जाओगे तुम्हारी सद्गति हो जायेगी।"

वे ही मरीचि ऋषि के पुत्र शापवश हिरण्यकशिपु के यहाँ उत्पन्न हुए। फिर मेरी योगमाया उन्हें भगवती देवकी के उदर में ले आयी। वहाँ वे जन्म होते ही कंस के द्वारा मारे जाकर वे फिर तुम्हारे लोक में आ गये हैं। अब माता देवकी उन्हें देखने को व्याकुल हैं।"

महाराज बलि ने कहा—"प्रभो! जब वे सुतललोक में आ ही गये, तो फिर बिना माता के गर्भ में गये पृथ्वी पर कैसे जायँगे। फिर माता ने तो उन्हें बच्चा देखा है।"

भगवान ने कहा—"कोई बात नहीं, माता का शोक दूर करने हम उन्हें ले जायँगे, अपनी योगमाया से उन्हें ज्यों का त्यों बना लेंगे। माता का फिर से दुग्ध पान करते ही ये सबके सब शाप से मुक्त हो जायँगे। फिर सुखपूर्वक अपने लोक को चले जायँगे। सबकी सद्गति हो जायगी।"

महाराज बलि ने कहा—"प्रभो! आप सभी लोकों के एकमात्र स्वामी हैं। आप जैसा चाहें वैसा करें।" यह कहकर बलि ने उन छहों को भगवान के सम्मुख समुपस्थित किया।

उन छहों को देखकर राम-कृष्ण अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। महाराज बलि ने दोनों की पूजा की। इस प्रकार असुरराज से पूजित होकर और उन छहों बालकों को साथ लेकर दोनों भाई द्वारकापुरी में लौट आये और अपनी माता को वे सब बच्चे दिये।

चिरकाल से बिछुड़े अपने प्यारे पुत्रों को पाकर पुत्रवत्सला भगवती देवकी अत्यन्त ही प्रमुदित हुईं। पुत्रों के स्नेह के कारण उनके स्तनों में अपने आप दूध भर आया। माता का स्नेह उमड़ने लगा। हृदय में प्रेम की हिलोरें उठने लगीं। सभी बच्चों को हृदय से लगाकर उन्होंने सिर सूँघ के अपने शोक सन्ताप को मेटा। दूध पिलाकर गोद में बिठाकर बारम्बार सबका मुख चूमा और

आँसू बहाते हुए उनके मस्तकों को सूँघने लगीं। पुत्रों के स्पर्श से उनके रोम रोम पुलकित हो रहे थे। भगवान् की गुणमयी देवी-माया से विमोहित हुई माता उन्हें पुन पुन· प्यार करने लगीं।

जब बालकों ने माता के उन स्तनों का पान कर लिया जो श्रीकृष्ण भगवान के पान करने से परम पावन बन चुके थे, तब उनके समस्त अशुभ नाश हो गये। भगवान् के अग स्पर्श से तथा उनके पीतशेष स्तन पय को पान करके उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति हो आयी उनके मन से आसुरी भाव दूर हो गये उन्हें अपने देवता होने का ज्ञान हो गया। अत· उन्होंने बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ भगवान् को बलराम जी को श्री वसुदेवजी को तथा माता देवकी जी को प्रणाम किया, उनसे आज्ञा ली और सबके देखत-देखत तुरन्त सुरलोक को चले गये। इस घटना से सभी को परम विस्मय हुआ।

माता देवकी जब इस घटना के सम्बन्ध म सोचने लगीं, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रहा। वे विचारने लगीं—"मरे हुए लोग फिर उसी शरीर स कैसे आ सकते हैं, किसी भाँति आ भी जायँ, तो उनके शरीर में तो परिवर्तन होना ही चाहिये। इन बालकों को मरे कितने दिन हो गये। इनसे छोटे राम-कृष्ण के पुत्र पौत्र भी हो गये। य अभी ज्यों के त्यों ही बने हैं, इन्हें देखते ही मेरे स्तनों मे दूध भर आया। फिर ये बालक सबके देखते देखते कैसे अन्तर्धान हो गये।" इस प्रकार माता बड़ी देर तक ऊहापोह करती रहीं। अन्त में उन्होंने समझा—"यह सब भगवान की माया है। अपनी माया के प्रभाव स सब कुछ कर सकते हैं, इनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनन्तवीर्य भगवान् वासुदेव के ऐसे एक नहीं अनन्त चरित्र हैं मेरे तो एक जिह्वा है। दो सहस्र जिह्वा वाले शेष जी भी यदि सृष्टि के आदि से सृष्टि के

अन्त तक भगवान् के अद्‌भुत चरित्रों का गान करना चाहे तो नहीं कर सकते। जो भगवान् के इस चरित्र को या अन्य चरित्रों को प्रेमपूर्वक सुनेंगे सुनावेंगे, पढ़ेंगे पढ़ावेंगे, उनका श्री भगवान् के पादपद्मों में मन रम जायगा और इससे वे उनके कल्याणमय परमधाम को प्राप्त हो जायँगे। मुनियो! मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने गंगा तट पर अनशन व्रत करके कथा सुनते हुए महाराज परीक्षित को यह पुण्यमय आख्यान सुनाया और अंत में कहा—"राजन्! भगवान् अपने भक्तों के लिये सब कुछ कर सकते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर के वे दूत बनकर हस्तिनापुर गये। महाराज उग्रसेन के सेवक बनकर सिंहासन के नीचे खड़े होकर स्तुति करते थे। द्रौपदी के लिये वे चीर बन गये अर्जुन के सारथी बन कर उसकी आज्ञा से रथ को इधर उधर घुमाते रहे। कहाँ तक कहें, भगवान् अपने भक्तों की सभी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। यदि भगवान् अपने अनन्याश्रयी भक्तों की समस्त इच्छाओं को पूर्ण न करें, तो उनकी भगवत्ता में दोष आ जाता है। देखो तुम्हारे पितामह अर्जुन तीर्थ यात्रा के अवसर पर द्वारका गये। भगवान् की सगी बहिन सुभद्रा को देखकर उनका मन चञ्चल हो गया। भगवान् अपने भक्त की भावना समझ गये और हँसकर बोले—"तुम मेरी बहन से विवाह करना चाहते हो क्या? यह सुनकर अर्जुन लज्जित हुए। यद्यपि बलराम जी की सम्मति नहीं थी, किन्तु भगवान ने उनकी इच्छा पूर्ण की।"

यह सुनकर महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! मेरे पितामह अर्जुनजी का विवाह राम-कृष्ण की भगिनी मेरी दादी सुभद्राजी के साथ कैसे हुआ। भगवान् ने किस प्रकार उनकी इच्छा पूर्ति की। इस प्रसङ्ग को मेरी सुनने की बड़ी इच्छा है। कृपा करके इस प्रसङ्ग को मुझे अवश्य सुनावें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् के पूछने

पर मेरे गुरुदेव भगवान् व्यासनन्दन श्री शुक ने जिस प्रकार सुभद्रा और अर्जुनजी के विवाह का सरस प्रसङ्ग कहा, उसे एक बार में संक्षेप में पीछे कह भी आया हूँ, अब फिर उसे ही कहूँगा आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

माता इच्छा समुझि सुतल बल हरि उठि धाये।
बलि तैं पूजित भये कुमर माया तैं लाये॥
सुतनि पाइ अति मुदित भई जननी सुख पायो।
पय पिआइ मुख चूमि सूँघि सिर हिय सरसायो॥
छै मरीचि सुत विधिहिँ जब, कामातुर लखि हँसि गये।
असुर भये ते शाप बश, प्रभु प्रसाद पुनि सुर भये॥
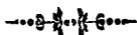
सुभद्रा अर्जुन प्रणय कथा

[१८२]

ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः ।
यथोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही ॥*
(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० १ श्लोक)

छप्पय

सूत कहैं—अब हरन सुभद्रा सुनहु मुनीश्वर ।
करहिँ भक्त अभिलाश सकल पूरन परमेश्वर ॥
वन प्रसङ्ग महँ पार्थ सुभद्रा इच्छा लखि उर ।
बनि बाबाजी रहें छद्म तें छिपि के हरि पुर ॥
बल छल कूँ समुझे नहीं, करे निमन्त्रित कपट मुनि ।
करति सुभद्रा पूर्व ही, प्रेम पार्थ को सुयश सुनि ॥

यह जीव भगवान् को भूलकर विषयों में भटकता रहता है। जो स्वयं विषयों के दास हैं, उनसे जाकर याचना करता है, उनसे सुख की आशा करता है। जिसे स्वयं सर्प ने डस लिया है, वह दूसरों को कैसे बचा सकता है। इस लोक के ही सुख इतने मोहक हैं कि रात्रि दिन भोगने पर भी उनसे चित्त नहीं

---

* महाराज परीक्षित् शुकदेवजी से पूछ रहे हैं—"ब्रह्मन् ! राम कृष्ण की बहिन सुभद्राजी से—जो मेरी दादी लगती थी—उनके साथ मेरे पितामह अर्जुन ने कैसे विवाह किया, इस कथा को मैं सुनना चाहता हूँ।"

हटता, फिर स्वर्गादि दिव्यलोकों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या। ससारी लोग वैषयिक सुखों को भी प्रचुर मात्रा मे प्रदान नहीं कर सकते, फिर वे पारलौकिक सुख तो देंगे ही क्या। एक भगवान् ही ऐसे हैं कि अपनी शरण में आने वालों के सभी मनोरथों को पूर्ण करते हैं। जो जिस कामना से भगवान् के समीप आता है, भगवान् उसकी उस इच्छा को पूरी करते है। जो काम सुख चाहता है, उसे काम सुख देते हैं अर्थ चाहता है, अर्थ देते हैं, जो विशुद्ध धर्म चाहता है उसे धर्म देते और जो मोक्ष चाहता है, उसे मोक्ष। साराश यह है कि उनकी शरण जाने से इसकी तथा परलोक की कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती। भगवान् दयामय हैं, वे कृपण नहीं। अपने आश्रितों के लिये कोई भी वस्तु उनके लिये अदेय नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज परीक्षित् के पूछने पर जैसे मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने सुभद्राहरण की कथा कही है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। अकेली द्रौपदी का विवाह पाँचों पाडवों के साथ हुआ। धृतराष्ट्र ने उन्हे बुलाकर इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे दिया। इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाकर द्रौपदी के सहित पाँचो पाडव सुखपूर्वक रहने लगे। उसी बीच मे एक दिन देवर्षि नारदजी पधारे और उन्होंने पाण्डवों से कहा—"देखो, लडाई झगडे के मुख्य दो कारण हैं। कामिनी और काचन। यदि किसी धन को, किसी स्त्री को दो चाहते हैं, तो उन दोनों मे झगडा अवश्य हो जायगा। एक बार धन के लिये चाहे झगडा न भी हो, स्त्री के पीछे तो झगडा हो ही जाता है। पहिले सुन्द, उपसुन्द दो सगे भाई असुर थे। उनमें परस्पर मे बडा प्रेम था। देवताओं ने एक अत्यन्त सुन्दरी तिलोत्तमा अप्सरा को भेजा। उसे देखकर दोनों उस पर आसक्त हो गये। दोनों कहने लगे—"यह मेरी पत्नी हो, मेरी हो"। अन्त मे दोनो आपस में लडकर

मर गये। यद्यपि तुम पाचों भाइयों में वडा प्रेम है, तथापि ऐसा नियम बाँध लो कि इतने समय तक एक भाई द्रौपदी के साथ रहेगा।"

पाडवों ने देवर्षि नारदजी की इस शिक्षा को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया। उन्होंने नियम बाँध लिया कि क्रम क्रम से नियत समय तक द्रौपदी अमुक के साथ रहा करेगी। यदि कोई भाई एकान्त में द्रौपदी के साथ हो और दूसरा वहाँ चला जाय, तो उसे बारह वर्ष ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके वनवास करना होगा। इस प्रकार नियम करके पाडव सुखपूर्वक रहने लगे।

एक दिन चोर किसी वेदज्ञ ब्राह्मण की गौओं को चुराये ले जा रहे थे, ब्राह्मण ने अर्जुन से सहायता की विनती की। अर्जुन के सब शस्त्र उसी भवन में रखे थे जहाँ धर्मराज द्रौपदीजी के साथ एकान्त में बैठे थे। अर्जुन उस घर में गये अस्त्र लेकर उन्हाने ब्राह्मण की गौओं की रक्षा की और फिर धर्मराज से आज्ञा लेकर नियम भग करने के कारण बारह वर्ष के वनवास के लिये चल दिये। यद्यपि धर्मराज ने बहुत मना किया, ऊँच-नीच समझाकर रोकना चाहा, किन्तु अर्जुन ने धर्म में छल छिद्र करना उचित नहीं समझा। वे ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए बारह वर्षों तक पुण्य तीर्थों में भ्रमण करते रहे। इसी वनवास के समय उन्होंने हरिद्वार में नागकन्या उलूपी के साथ, मणिपुर में वहाँ के राजा की पुत्री चित्राङ्गदा के साथ तथा द्वारका में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की बहिन सुभद्रा के साथ विवाह किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अर्जुन तो ब्रह्मचर्य नियम लेकर बारह वर्ष वनवास करने गये थे, वनवास में भी उन्होंने एक दो नहीं तीन-तीन विवाह कर लिये। यह कैसा ब्रह्मचर्यव्रत?"

सूतजी बोले—"महाराज! गृहस्थियों के लिये यही ब्रह्मचर्य

व्रत है कि वे अपनी ही पत्नी से सन्तुष्ट रहें। ऋतुकाल में ही समागम करें। स्त्री स्पर्श न करना यह व्रत यतियों का है। पाडवों की प्रतिज्ञा का तात्पर्य यह था कि नियम उल्लङ्घन करने वाला भाई बारह वर्ष द्रोपदी से कोई सम्बन्ध न रखे और न इन्द्रप्रस्थ रहे। यदि अर्जुन वनवास के समय में पर स्त्री से सम्बन्ध रखते तब तो उनका व्रत खण्डित हो जाता। उन्होंने तो धर्मपूर्वक विवाह करके तब सम्बन्ध स्थापित किया था। इसमें उनके ब्रह्म-चर्य व्रत का लोप नहीं हुआ।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी! हम समझ गये। अब आप प्रस्तुत प्रसग को ही प्रारम्भ करें। सुभद्राजी के साथ अर्जुन का विवाह कैसे हुआ।"

सूतजी बोले—"महाराज! तीर्थयात्रा में घूमते घामते अर्जुन प्रभासपट्टन नामक सुप्रसिद्ध तीर्थ में आये। यह समुद्र के तट पर परमपुनीत पावन क्षेत्र है। द्वारकाजी के सन्निकट ही है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जब प्रभास में अपने परमप्रिय मित्र अर्जुन का आगमन सुना तो वे स्वय प्रभास में उनसे मिलने गये। भगवान् को देखकर अर्जुन परम प्रमुदित हुए। दोनों अत्यन्त प्रेमपूर्वक परस्पर में मिले। अर्जुन के स्नेहवश भगवान् कुछ दिन प्रभास में रह गये। भगवान् जब द्वारका से प्रभास को चलने लगे तो उनकी बडी माता रोहिणीजी ने भी भगवान् से कहा—"श्रीकृष्ण! मैंने सुना है तुम प्रभास जा रहे हो। मेरी भी इच्छा है मैं प्रभास स्नान करूँ, तुम्हारी सम्मति हो, तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ।"

भगवान् ने कहा—"माताजी! कोई बात नहीं। पिताजी से आप आज्ञा ले लें और मेरे साथ प्रभास चलें।"

वसुदेवजी को इसमें क्या आपत्ति होनी थी, उन्होंने सहर्ष रोहिणीजी को भगवान् के साथ जाने की अनुमति दे दी।

रोहिणीजी के साथ उनकी युवती कुमारी पुत्री सुभद्रा भी चली। दास-दासी और सेवक सैनिकों के साथ वे सबके सब प्रभास में पहुँचे। अर्जुन ने जैसे ही सुभद्रा को देखा कि उनका मन मोहित हो गया।"

भगवान् अर्जुन के मनोगत भाव को ताड़ गये। वे तो अन्तर्यामी हैं, उनसे क्या छिपा रह सकता है। अतः हँसते हुए बोले—"अर्जुन! भैया, तुम तो आज कल वनवास कर रहे हो। एक प्रकार से यति धर्म का पालन कर रहे हो। तुम्हारा मन धुकुर-पुकुर क्यों कर रहा है।"

यह सुनकर अर्जुन लज्जित हुए और संकोच के साथ बोले—"वासुदेव! इस पापी मन का विश्वास नहीं, कहाँ अटक जाय। कहाँ ले जाकर पटक दे। आपसे तो मेरा कोई छिपाव है ही नहीं। छिपाव करना भी चाहूँ, तो नहीं कर सकता। मेरा मन इस लड़की में फँस गया है।"

हँसकर भगवान् बोले—"यह मेरी बहिन है। सारण, संकर्षण और यह एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं। यह मेरे पिता की बड़ी प्यारी दुलारी पुत्री है। बोलो, इससे विवाह करना चाहते हो?"

दीनता के स्वर में अर्जुन ने कहा—"वासुदेव! यदि यह सुन्दरी मुझे पत्नी रूप में प्राप्त हो जाय, तो मैं अपना परम अहोभाग्य समझूँ। देव! जिस प्रकार मुझे यह ललना रत्न प्राप्त हो, उस उपाय को बतावें। यह कुलवती है, वसुदेवजी की पुत्री है, आपकी बहिन है सुन्दरी, रूपवती, गुणवती और युवती है। प्रभो! जिस प्रकार यह मेरी पटरानी बन जाय, वह उपाय आप मुझे बतावें।"

चिन्ता के स्वर में भगवान् ने कहा—"भैया! काम बड़ा कठिन है। बात यह है कि पिताजी की बात होती तो, तो उन्हें

मैं जैसे-तैसे समझा लेता। वे मेरी बात को टालते भी नहीं, किन्तु यह कार्य है, बलरामजी के हाथों में। वे ही सब करने वाले हैं। मैं उनका बड़ा शील सकोच करता हूँ। उन्होंने निश्चय कर लिया है कि सुभद्रा का विवाह दुर्योधन के साथ करूँगा। वे जो बात निश्चय कर लेते है, फिर उससे टस से मस नहीं होते। जो उनके निश्चय मे विघ्न डालता है, उस पर वे अत्यन्त कुपित हो जाते हैं। यद्यपि मैं जानता हू कि तुम दुर्योधन से गुणों मे, रूप मे, बल मे सदाचार तथा सयम मे श्रेष्ठ हो, फिर भी मैं अपने बड़े भाई का विरोध नहीं कर सकता। साथ ही मैं तुम्हारा प्रिय भी करना चाहता हूँ, जिस कार्य से तुम्हे प्रसन्नता हो उसे मैं प्राणों का पण लगाकर भी पूरा करूँगा। हाँ, एक उपाय तो है यदि उसे तुम कर सको तो ?'

अर्जुन ने कहा—"वासुदेव ! मैं सब कुछ कर सकता हूँ, आप आज्ञा दें।"

यह सुनकर भगवान् ने अर्जुन के कान मे कुछ बात कही। अर्जुन यह सुनकर हँस पड़ा। भगवान् भी खिल खिलाकर हँस पड़े और बोले—"कहो, तुम्हे स्वीकार है।"

हँसकर अर्जुन ने कहा—"मुझे सब स्वीकार है।"

बात यहा समाप्त हुई। भगवान् कुछ दिन अर्जुन के साथ और रहे। सुभद्रा ने भी जब अर्जुन का रूप, सौंदर्य और पुरुषार्थ देखा, तो वह भी उन पर मोहित हो गयी, वह मन ही मन भगवान् से प्रार्थना करने लगी कि ये ही मेरे पति होवें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अन्तर्यामी प्रभु तो अपने आश्रितो की इच्छा पूर्ण करते ही हैं। अर्जुन को उलटी सीधी पट्टी पढाकर और उनसे अनुमति लेकर वे अपनी समृद्धिशालिनी द्वारकापुरी को चले गये। अब आगे जो कौतुक होगा, उसकी

उत्सुकतापूर्वक आप प्रतीक्षा करें। मैं आचमन कर लूँ, आज साक में रामरस अधिक हो गया था, प्यास लगने लगती है।

छप्पय

मौनी बाबा बने सुयश पुर माहीं छायो।
बल बुलाइ घर प्रेम सहित भोजन करवायो॥
कुमरि सुभद्रा बार बार व्यञ्जन बहु परसे।
अति सुंदर मनहरन रूप लखि पुनि पुनि हरषे॥
द्वै द्वै मिलिकें चार जब, भई आँखि दोऊ ठगे।
कपटी मुनि मोहित भये, प्रणय सहित देखन लगे॥

सुभद्रा हरण

[११८३]

महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ।
जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

वेष बदलि कें चार मास अरजुन तहँ निवसे ।
करत प्रफुल्लित सबनि शारदी शशि सम विकसे ॥
कुमरि हरन हरि संग योजना बैठि बनाई ।
रथ चढि उत्सव माँहि सुभद्रा बाहर आई ॥
वासुदेव निज रथ दयो, छद्म वेष तजि पाडु सुत ।
गये सुभद्रा के निकट, पकरि बिठाई रथ मुदित ॥

भगवान् की सम्मति से–हरि आज्ञा से–बनावट भी की जाय, तो सत्य हो जाती है, क्योंकि भगवान के लिये तो सभी बनावट है। इस ससार में यथार्थता कहाँ ? यह तो माया के प्रभाव से कुछ का कुछ दीखता है। अन्तर इतना ही है कि आसुरी माया का आश्रय लेने से पुनः पुनः असत् ससार की प्राप्ति होगी।

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन ! बडी भारी देवयात्रा के समय रथ पर चढकर किले से निकलती हुई सुभद्रा जी को उनके माता-पिता तथा भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी की अनुमति से महारथी अर्जुन ने उसका अपहरण किया।"

भगवान् की योगमाया का आश्रय लेने से सुखस्वरूप भगवान् प्राप्त होंगे। आश्रय विशुद्ध होना चाहिये क्रिया यदि विपरीत-सी भी हो जायँ, तो कोई चिन्ता नहीं। विशुद्ध आश्रय एक मात्र श्री हरि ही हैं। उनकी सन्निधि में बनावट भी खप जाती है। पूतना बनावटी वेष बनाकर ही तो वृन्दावन में बनवारी के निकट गयी थी। उसका भाव विशुद्ध हो सो भी बात नहीं। वह स्तनों में विष लगाकर भगवान को मारने की भावना से गयी थी वह सदाचारिणी हो सो भी बात नहीं रुधिर पीने वाली क्रूरहृदया राक्षसी थी, किन्तु एक ही बात आशाप्रद थी, वह किसी संसारी पुरुष के समीप गयी था, उसका आश्रय विशुद्ध था। भगवान् ने उसे माता की गति दी। उसका परलोक बन गया।

कुब्जा का भाव दुष्ट था। वह काम तृप्ति चाहती थी, किन्तु किसी संसारी पुरुष की ओर उसने जीवन पर्यन्त आँख उठाकर भी नहीं देखा। उसने अपनी इच्छा की पूर्ति राधारमण से चाही, इससे दुर्भगा होकर भी सुभगा बन गयी। कामिनी होकर भी भव्यभामिनी बन गयी और इस लोक का सुख भोगकर दिव्य वृन्दावन की नित्य सहचरी बन गयी। एक मात्र भगवान् का आश्रय लेने से दोष, गुण रहते ही नहीं। भगवान् उसके समस्त पापों को छुड़ा देते हैं। यह उनकी प्रतिज्ञा है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! प्रभास में अपने सखा अर्जुन से मिल भेंटकर भगवान् द्वारकापुरी में चले आये और सुखपूर्वक रहने लगे। एक दिन पुरवासियों के मुख से उन्होंने सुना कि आज कल द्वारका में एक बड़े ऊँचे सन्त पधारे हुए हैं। उनकी आकृति बड़ी भव्य है। उनके काले काले घुँघराले बड़े ही सुन्दर बाल हैं। अति मनोहर आकर्षक उनका रूप है। देखने में वे साक्षात् कामदेव के समान हैं ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं। त्रिदण्डी हैं, तीन दण्डों को लेकर वे चलते हैं। किसी से बोलते

चालते नहीं, मौन रहते हैं। जो कुछ प्रारब्धवश मिल जाता है, उसे ही खाकर संतोष करते हैं। उनके दर्शनों को नित्य ही सहस्रों नर-नारी आते हैं, किन्तु वे किसी की ओर आँख उठाकर नहीं देखते।"

महात्मा की ऐसी प्रशंसा सुनकर भगवान् भी उनके दर्शनों को गये। जिस प्रकार बगुला ध्यान में मग्न रहता है, उसी प्रकार त्रिदण्डी स्वामी आँख बन्द किये हुए ध्यान में मग्न थे। भगवान् ने मुनि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अपनी हँसी रोकते हुए बोले—"दंडवत् स्वामीजी !"

अब स्वामीजी ने आँखें खोलीं—"ऊपर हाथ उठाकर गंभीरता पूर्वक बोले—"नारायण, नारायण !"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"महाराज! केवल नारायण नारायण नहीं। नर नारायण कहिये।"

यह सुनकर स्वामीजी हँस पड़े और भगवान् भी हँसते हुए चले आये। अब तो भगवान् उन त्रिदण्डी स्वामी के बड़े भक्त हो गये। जहाँ सूर्यास्त हुआ, तहाँ भगवान् ने हलुआ, पूड़ी, कचौड़ी, रबड़ी, और तरह-तरह के पदार्थ भेजे। स्वामीजी ने चुपके से उन्हें भगवत प्रसाद समझ कर पा लिया, दिन भर फिर मौन। कोई आओ, कोई जाओ। कोई कुछ रख जाओ, कोई उठा ले जाओ। स्वामीजी को कोई काम नहीं। उन्होंने अपनी सब इच्छाएँ एक में लगा रखी थीं।

किसी ने पूछा—"स्वामीजी ! अब तो वर्षा आरम्भ हो गयी, चातुर्मास्य तो आप यहीं करेंगे ?"

स्वामीजी ने सम्मति सूचक सिर हिला दिया, सबने बड़ा सन्तोष प्रकट किया कि चार महीनों तक स्वामीजी के दर्शन होते रहेंगे। लोगों की उनकी भव्याकृति और प्रसन्न मुख को देख कर बड़ी भक्ति हो गयी।

श्री बलराम जी ने भी स्वामीजी की बडी प्रशंसा सुनी। वे भी महात्मा के दर्शनों को गये। स्वामीजी ने मुख पर कोई ऐसी भस्म या पराग लगा रखी थी कि बडे ही भले लगते थे। श्री बलराम जी बडे भक्तिभाव से स्वामीजी के समीप बैठ गये और नम्रता के साथ बोले—"भगवन्! गृहस्थियों के लिये सदा चिन्ता ही चिन्ता है। घर तो चिन्ता और दुःखों का पुञ्ज है। वह आदमी को बाँध लेता है। गृहस्थ में रहकर एक ही सर्वश्रेष्ठ सुख है। पद धूलि से इस अपावन गृह को परम पावन बना जाते हैं। कभी कभी कृपा करके सन्त महात्मा आ जाते हैं। वे अपने चरणोदक की कीच से इसे विशुद्ध बना जाते हैं। सत महात्मा के चरण जिस दिन गृहस्थी के घर मे पड़ जाय, वही दिन उसके लिये परम सौभाग्यदायक है। यद्यपि मैंने सुना है, आप कहीं भिक्षा करने जाते नहीं, किन्तु मेरे ऊपर कृपा करके आप मेरे घर पधारें और वहाँ भगवान् का प्रसाद पावें तो मैं और मेरा समस्त परिवार कृतार्थ हो जाय।"

यह सुनकर स्वामीजी कुछ देर तक सोचते रहे। अन्त में उन्होंने सम्मति सूचक सिर हिला दिया। स्वामीजी की स्वीकृति पाकर बलरामजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे स्वामीजी के पादपद्म में प्रणाम करके अपने महलों में चले गये।

दूसरे दिन उन्होंने स्वामीजी की भिक्षा की बडी तैयारियाँ की। नियत समय पर स्वामी जी खडाऊँओं को चटकाते हुए त्रिदण्ड को लिये हुए मन्त्री के साथ पधारे। बलदेव जी ने परिवार सहित उठकर स्वागत किया। चरण धोकर उस चरणामृत को सिर पर चढाया और विधिवत् उनकी पूजा की। फिर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक षडरस युक्त परम सुस्वादु भगवान् के प्रसादी व्यञ्जन उनके सम्मुख परोसे। नारायण का नाम लेकर स्वामी जी ने उन मधुरातिमधुर व्यञ्जनों का भोग लगाया। बलरामजी एक-एक

ओर वेठे हुए थे। स्वामीजी ने खीर का पात्र खाली कर दिया। वेठे ही वेठे बलदेवजी ने पुकारा—"सुभद्रा! स्वामीजी को खीर तो परस जा।" यह सुनते ही वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हाथ में खीर का पात्र लिये हुए वीर पुरुषों के मन को हरण करने वाली युवती सुभद्रा निकल कर आयी। स्वामीजी के भव्य रूप को देखकर वह परम विस्मित हुई। उनकी काली-काली घुँघराली लटों में उसका मन अटक गया। खीर परोसते-परोसते उसका हृदय धक-धक कर रहा था, बीच-बीच में वह स्वामीजी की ओर भी बड़े कौशल से देख लेती। उसे आश्चर्य हो रहा था, खीर परस कर वह भीतर गयी। इधर-उधर चारों ओर देखकर उसने किवाड़ की आड़ से स्वामीजी को देखा। अब उसे सन्देह न रहा। वह समझ गयी, ये तो कपट मुनि हैं। मेरी बुआ कुन्ती के पुत्र ये अर्जुन ही हैं, जिनको मैंने प्रभास में देखा था। अवश्य ही ये मेरे लिये ही ऐसा वेष बनाकर आये हैं। इस विचार के आते ही उसे परम हर्ष हुआ। प्रसन्नता के कारण उसके कमल-नयन खिल गये। इधर स्वामीजी ने भी सुभद्रा को देखा। देखते ही वे उसे पहिचान गये, इसी के पाने के लिये तो उन्होंने यह छद्म-वेष बनाया था। सुभद्रा के स्वामी बनने के लिये वे स्वामीजी बने थे, प्रेमभाव से विक्षुब्ध अपने चित्त को उन्होंने सुभद्रा में लगा दिया। चार आँखें होते ही मूक वाणी में बहुत सी बातें हो गयीं। कुमारी सुभद्रा ने भी परमरूपवान् अर्जुन को अपना सर्वस्व मन ही मन समर्पित कर दिया, उन्हें पति बनाने की इच्छा से अपने नयन और मन को उन्हीं में लगाकर लज्जासहित कटाक्ष विक्षेप के सहित हँसती हुई बार-बार उन्हें ही देखने लगी। तभी बलभद्र ने पुकारा—"सुभद्रा! साग ला बिटिया!"

सुनते ही तुरन्त सुभद्राजी भीतर दौड़ी गयीं। साग लेकर वे सकुचाती हुई आयीं। साग परसते-परसते हाथ का पात्र छूट

कर गिर गया। बैठे ही बैठे बलरामजी बोले—"तू बड़ी पगली है री सुभद्रा! तू इतनी बड़ी हो गयी। तुझे इतना भी ज्ञान नहीं हुआ पात्र कैसे पकड़ना चाहिये। जा इसे उठा ले जा, भीतर है दूसरा ले आ।"

लज्जा के कारण अपने बदन में ही घुसती-सी सुभद्रा ने शीघ्रता से पात्र उठाया और वह भीतर भाग गयी।

बलरामजी ने फिर पुकारा—"सुभद्रा! पूड़ी ला।"

स्वामीजी ने कहा—"नहीं, राजन! मैं प्रसाद पा चुका, अब मुझे कुछ नहीं चाहिए।" सुभद्रा आयी और लौट गयी। स्वामी जी अब खाना पीना तो सब कुछ भूल गये। मन ही मन उसी सुन्दरी सुभद्रा का चिन्तन करने लगे। जैसे तैसे वे उठकर खड़े हुए। बलरामजी ने स्वयं झारी लेकर उनके हाथ धुलाये, पैरों को धोकर अपने दुपट्टा से पोंछा। वह अपने त्रिदण्ड को उठाकर चल दिये, किन्तु उनका मन नहीं गया। वह वहीं महलों में अटका रह गया। सुभद्रा को प्राप्त करने की कामना ने उनके चित्त में विभ्रम पैदा कर दिया था। विचारों के बवंडर उठ रहे थे। वे यही सोच रहे थे, किस प्रकार मैं सुभद्रा को हरकर ले जाऊँ। यद्यपि बलरामजी ने उनका अत्यधिक आदर किया था, किन्तु उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं था। उनके चित्त पर तो सुभद्रा चढ़ी थी।

एक दिन एकान्त में अकेले भगवान् श्री कृष्णचन्द्र बाबाजी बने अर्जुन के समीप गये और अकेले में उन्हें ले जाकर हँसते हुए बोले—"स्वामीजी! आपकी तपस्या के पूरे होने के दिन आ गये।"

अर्जुन ने पूछा—"कैसे आ गये, महाराज! मुझे तो बलराम जी का बड़ा भय लगता है।"

भगवान बोले—"देखो, मेरे भाई का दुर्योधन के प्रति सहज

अनुराग है। एक तो उन्होंने उसे गदायुद्ध की शिक्षा दी है, दूसरे दुर्योधन राजा होकर भी सेवक की भाँति इनके साथ बर्ताव करता है। शिष्य की भाँति पुत्र की भाँति इनकी समस्त आज्ञाओं को मानता है। इसलिये प्रसन्न होकर ये सुभद्रा का विवाह उसके साथ करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध से न तो मेरे पिता ही सन्तुष्ट हैं न माताजी की ही सम्मति है। मैंने प्रकारान्तर से माता पिता से पूछ भी लिया है, कि यदि अर्जुन सुभद्रा को हरण कर ले जाय, तो उन्हें कोई आपत्ति तो न होगी। मैंने देखा इसमें उनकी पूर्ण सम्मति है। फिर मैंने सोचा—"धर्मराज युधिष्ठिर तो इसे अनुचित न समझेंगे, इसलिये एक अत्यंत विश्वासपात्र दूत मैंने इन्द्रप्रस्थ भी भेजा कि वह जाकर धर्मराज से सब यथार्थ वृत्तान्त कहे, और इस विषय में उनकी जैसी सम्मति हो, मुझे तुरन्त आकर बतावे।" इन्द्रप्रस्थ से आज ही दूत लौटकर आया है, धर्मराज की इस विषय में पूर्ण सम्मति है। अतः तुम मेरी बहिन सुभद्रा का हरण कर लो।"

अर्जुन ने कहा—"हरण कैसे करूँ वासुदेव! वह तो सात तालों के भीतर महल में रहती है?"

भगवान् ने कहा—"इसका भी उपाय बताता हूँ। परसों से हमारे इस रैवत पर्वत पर बड़ा भारी महोत्सव होगा। सब स्त्री बच्चे, बड़े बूढ़े यहाँ यात्रा करने आवेंगे, बड़ा भारी मेला होगा। लोग पूजन करेंगे, रैवत पर्वत की परिक्रमा करेंगे। सुभद्रा भी आवेगी, जब वह पूजन करके जाने लगे, तब तुम उसे रथ में बिठाकर भाग जाना। क्षत्रियों के लिये ऐसा विवाह बुरा नहीं माना जाता। स्वयं मैंने भी रुक्मिणी के साथ ऐसा ही विवाह किया है। अपने में अनुरक्त और भी बहुत-सी राजकुमारियों को मैं इसी प्रकार हरण करके लाया हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज! मेरे पास तो यहाँ रथ है और

नहीं। चार महीने से तो मैं यहाँ बाबाजी बना बैठा हूँ।"

भगवान् ने कहा - "इसकी तुम चिन्ता मत करो। रथ में अपना भेज दूँगा।"

अर्जुन ने कहा—"ऐसा करने से श्री बलरामजी आप पर भी क्रुद्ध होंगे।"

भगवान् बोले—"मैं सब उनको मना लूँगा। तुम निःशंक होकर सुभद्रा का हरण करो।"

यह कहकर भगवान् ने दारुक को बुलाया और उसे अर्जुन के सम्मुख ही सब समझा दिया—"अमुक दिन अमुक समय पर तुम यहाँ आ जाना और ये जो भी कहें, वही करना। इनकी किसी भी आज्ञा का उलङ्घन न करना, इनके अनुकूल बर्ताव करना।" हाथ जोड़कर दारुक ने भगवान की आज्ञा शिरोधार्य की। तदनन्तर अर्जुन से अनुमति लेकर भगवान् अपने महलों में आ गये।

नियत तिथि को सुभद्रा सोलहों शृंगार करके रथ में बैठकर देवयात्रा के निमित्त चली। उसके आगे पीछे अस्त्र शस्त्र लिये हुए सैनिक चल रहे थे। सखी सहेलियों से घिरी वह अत्यन्त उल्लास के साथ सुदृढ़ किले से बाहर निकली। राजकुमारी के सम्मान के निमित्त स्थान-स्थान पर सैनिक खड़े थे। वह अत्यन्त प्रसन्नता के साथ रैवत पर्वत पर पहुँची। वहाँ उसने देवता का पूजन किया, पर्वत की परिक्रमा की और सब कार्यों से निवृत्त होकर रथ में बैठकर अपने महलों की ओर चली।

इधर निश्चित समय पर दारुक सारथी भगवान श्री कृष्ण-चन्द्र के गरुड़ की ध्वजा वाले सुवर्ण के विशाल रथ को लेकर उपस्थित हुआ। रथ को देखकर सव्यसाची अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने यतियों का छद्मवेष छोड़ दिया। और सुदृढ़ कवच धारण किया। बाणों से भरे अक्षय दो तूणीर पीछे लट-

काये। धनुष को लेकर और उँगुलियों में गोह के चमड़े के उँगुलीत्राण पहिनकर वीर वेप से रथ में आकर बैठ गये। रथ बड़ा ही सुन्दर था उसमें शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहिक नामक चार घोड़े जुते हुए थे, छोटी बड़ी घटियाँ उसमें लगी हुई थीं। अर्जुन के बैठते ही दारुक ने रथ को हाँक दिया। मेघ के समान गम्भीर शब्द करता हुआ रथ और आगे बढ़ा। दूर से ही उन्होंने सुभद्रा का रथ आता हुआ देखा। वे सारथी से बोले—"दारुक! तुम इस रथ के समीप मेरे रथ को ले चलो।"

दारुक ने कहा—"प्रभो यह तो अन्तःपुर का रथ है, इसमें या तो कोई रानी होंगी या राजकुमारी।"

अर्जुन ने डाँटकर कहा—"तुम हमसे उत्तर प्रत्युत्तर मत करो। जैसा हम कहें वैसा करो।"

"जो आज्ञा" कहकर दारुक ने रथ बढ़ा दिया। सुभद्रा के रथ के समीप पहुँचकर अर्जुन उससे उतर पड़े। उन्होंने निर्भय होकर रथ पर पड़े हुए परदे को उठा लिया और उसमें बैठी हुई सुभद्रा के अत्यन्त कोमल हाथ को पकड़कर अपने रथ पर बैठा लिया। सैनिक सब किंकर्तव्यविमूढ़ बने इसको देखते रहे। जब तक वे अपना कर्तव्य भी निर्णय न कर सके, तब तक सुभद्रा अर्जुन के रथ पर पहुँच चुकी थी। रक्षक सेनापति ने डाँटकर कहा—"यह आप क्या करते हैं? ऐसा करना आपको उचित नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"चुप रहो, यहाँ से भाग जाओ।"

सेनापति ने कहा—"भाग कैसे जायँ जी! हम शक्ति रहते तो आपको ऐसा करने नहीं देंगे।" यह कहकर वे युद्ध के लिये उद्यत हो गये। उन्हें युद्ध के लिये उद्यत देखकर अर्जुन ने ऐसे बाण मारे जिनसे वे सबके सब तितर-बितर हो गये, कोई मरा नहीं। अर्जुन अपने रथ को बढ़ाकर इन्द्रप्रस्थ की ओर चले।

सैनिकों ने दौड़कर द्वारका में सुधर्मा सभा के सभापाल से जाकर

सब समाचार कहा। सभा के ऊपरी भाग में एक बड़ा भारी घंटा टँगा रहता था, उसकी चाभी सभापति के ही पास रहती थी,

जब द्वारका पर कोई आपत्ति आती थी, तो वह घंटा बजाया जाता था। उस घंटे की ध्वनि जब जिसके कान में पड़े सब उसे

जैसी भी स्थिति में बैठा हो, वैसी ही स्थिति में दौड़कर सभा में आना पड़ता था। सभापति ने तुरन्त दौड़कर आपत्तिजनक घंटे को बजाया। उसकी ध्वनि सुनते ही समस्त यादव वीर जैसी स्थिति में थे, वैसी ही स्थिति में सभा की ओर भागे। कोई भोजन कर रहे थे, वे भोजन को छोड़कर भागे, कोई नहा रहे थे, नहाने को छोड़कर भागे। सब ही शीघ्रता से आकर सुधर्मा सभा में बैठ गये।

जब समस्त यादव सामन्त सभा में बैठ गये, तब सभापति ने उन सैनिकों को सबके सम्मुख समुपस्थित किया। सैनिकों ने कहा—'हम कुमारी सुभद्रा देवी के साथ उनकी रक्षा के निमित्त रैवत पर्वत के महोत्सव में गये थे, वहाँ से हम लौट रहे थे, इतने में ही वीरवर अर्जुन आकर राजकुमारी को बलपूर्वक हरण कर ले गये। वे इन्द्रप्रस्थ की ओर रथ दौड़ाते हुए गये हैं।"

इतना सुनते ही सभा में जितने यादव युवक बैठे थे, वे क्रोध के कारण काँपने लगे। अत्यन्त ही कुपित होकर ओठ चबाते हुए कहने लगे—"अर्जुन ने यह अत्यन्त नीचता का काम किया है, हम समस्त यादवों का अपमान किया है। आज हम उसे उसकी अशिष्टता का फल चखावेंगे। आज हम उसे समर में मार गिरावेंगे। अब देरी करने का काम नहीं है। जब तक वह दूर न निकल जाय, तभी तक उसे पकड़ लेना चाहिये, अब विशेष बातें करने का समय नहीं। सेनापति! सेना को सजावे।" ऐसा कहते हुए सब उठकर खड़े हो गये। जैसे समुद्र में ज्वर भाटा आ जाता है, वैसे उस समय सुधर्मा सभा में तूफान-सा आ रहा था। सभी समर करने पर उतारू थे। कोई सेवकों से कहता—"मेरे अस्त्र ले आओ।" कोई कहता—"मेरा रथ तुरन्त जोड़ो।" कोई स्वयं ही रथ जोड़ने लगे। सैनिकों में भगदड़ मच गयी। बात की बात में सेना तैयार हो गयी। उस सभा में दो ही अपने आसनों पर बैठे

हुए थे, एक तो बलदेवजी एक श्री कृष्णचन्द्रजी। बलदेवजी तो क्रोध के कारण मन ही मन अत्यन्त क्षुभित हो रहे थे, किन्तु भगवान् शान्तभाव से बैठे थे।

सबको युद्ध के लिये व्यग्रता करते देखकर बलरामजी ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"अरे, तुम सब इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हो ? हमारा इतना घोर अपमान होते देखकर भी ये कृष्ण चुपचाप शान्तभाव से बैठे हैं, इनका भी तो अभिप्राय जान लो सब लोग बैठ जाओ, श्रीकृष्ण की सम्मति सुनकर फिर जैसे ये कहें वैसा किया जायगा।" यह सुनकर पुन. सभी अपने अपने आसनों पर बैठ गये।

सबके बैठने पर जैसे पूर्णिमा के दिन परम गम्भीर अगाध समुद्र क्षुब्ध हो जाता है, उसी प्रकार क्षुभित होकर बलरामजी लाल-लाल आँखें निकालकर कहने लगे—"कृष्ण! यह अर्जुन तुम्हारा मित्र है। यह इतनी धूर्तता करेगा, इसका हमें स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। इसने हमारे कुल का अपमान किया है। चार महीनों तक तो वह कपट मुनि बना रहा। फिर उसने हमारे कुल में कलङ्क लगा दिया, कौन स्वात्मभिमानी पुरुष ऐसे भारी अपमान को सहन कर सकेगा ? इतने पर भी तुम शान्त निर्विकार बने चुपचाप बैठे हो। क्या तुम जाति के इस घोर अपमान को ऐसे ही सहते रहोगे ?"

शान्तभाव से भगवान ने कहा—"भैया जी! मैं तो इसमें यादवों का कुछ भी अपमान नहीं समझता। अर्जुन ने हमारा अपमान नहीं किया, उसने तो हमारे गौरव को बढ़ाया है। पुरुवंश क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। पुरुवंशियों से सम्बन्ध होना हमारे लिये गौरव की बात है। अर्जुन कुलीन है। हमारी बहिन सुभद्रा जैसी यशस्विनी है, वैसा ही यशस्वी अर्जुन है। आप उसे दुर्योधन को देना चाहते थे, दुर्योधन से अर्जुन गुणों में, बल में,

वीर्य में, सदाचार, तथा सत्यता में कुछ कम नहीं है, अधिक ही है। आप को कन्या का विवाह करना ही था। दुर्योधन के साथ न करके अर्जुन के ही साथ कर दे तो इसमें हानि ही क्या है ?"

क्रोध में भरकर बलरामजी ने कहा—"हानि कुछ न हो, किन्तु यह की तो उसने अशिष्टता। साधुवेप को कलंकित किया, उसके ऐसे आचरण से आगे साधुओं पर कौन विश्वास करेगा। फिर उसे बलपूर्वक कन्या का हरण करने का क्या अधिकार था ?"

भगवान ने कहा—"भैया जी, तनिक शान्त होकर विचार करें। समान शीलों में प्रेम हो जाता स्वाभाविक है। जब तक वह साधुवेप मे रहा तब तक उसने साधुता का पालन किया। उसने सुभद्रा का अपहरण वीर वेप से किया है। इसने साधुवेप को कलंकित नहीं किया। स्वयंम्वर मे न जाने कन्या किसे वरण कर ले हमारे यहाँ धन लेकर कन्या बेचने की प्रथा है ही नहीं। प्रसन्नतापूर्वक आप देना नहीं चाहते थे। अब उसके लिये कन्या के हरण के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा उपाय था। क्षत्रियों के लिये इस प्रकार बलपूर्वक कन्या का अपहरण करना निंदित नहीं है। आप के कुल के ही लोग बहुत-सी कन्याओं को स्वयंम्वरो से बलपूर्वक अपहरण कर लाये हैं और आपने उनका समर्थन किया है, साथ दिया है। जब उन इतने बड़े-बडे राजाओं का अपमान नहीं हुआ, तो आप का कैसे अपमान होगा। इसलिये मेरी दृष्टि मे तो अर्जुन ने कोई अनुचित कार्य किया नहीं।"

यह सुनकर बलरामजी और भी अधिक क्रुद्ध हुए और बोले—"कृष्ण ! तू पक्षपात करता है। यादव अर्जुन को कभी क्षमा नहीं कर सकते।"

अपने बड़े भाई को इस प्रकार कुपित देखकर भगवान् ने

उठकर उनके दोनों पैर पकड़ लिये और अत्यन्त ही नम्रतापूर्वक समझाते हुए कहने लगे—"भैयाजी ! देखिये, सब ऊँची-नीची बात सोच लीजिये। युद्ध करने के लिये मैं आपको रोकता नहीं। किन्तु यह बताइये यादवों में ऐसा कौन वीर है, जो अर्जुन से टक्कर ले सके। युद्ध में इन्द्र भी उससे नहीं जीत सके थे। खाण्डव-दाह के समय मैंने उसका पुरुषार्थ देखा था। फिर अब तो वह अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित है। मेरे दिव्य रथ पर वह बैठा हुआ है अब तो उसे स्वामी कार्तिकेय भी नहीं जीत सकते। यदि आप युद्ध करने गये और पराजित होकर लौट आये, तो समस्त यादवों के मुखों पर कालिमा पुत जायगी। इसलिये कल्याण इसी में है कि आप उसे प्रसन्नतापूर्वक बुला लें। विधि-पूर्वक सुभद्रा का उसके साथ विवाह कर दें। इससे हमारी भी मान मर्यादा बनी रहेगी, उसकी भी कीर्ति बढ़ेगी।"

बलदेवजी यह सुनकर कि अर्जुन ने श्रीकृष्ण के रथ पर ही बैठकर सुभद्रा का हरण किया है, वे हँस पड़े और बोले—"कृष्ण ! यदि तुझे सुभद्रा का विवाह अर्जुन के ही साथ करना था, तो इतना ढोंग क्यों रचा। क्यों चार महिने उसे बाबाजी बनाकर रखा। अवश्य ही यह सब कार्य तेरी ही सम्मति से हुआ है, नहीं तो रथ उसे कैसे मिल जाता। तेरी यही इच्छा थी, तो मुझ से पहिले क्यों नहीं कहा।"

लज्जित होकर भगवान् ने कहा—"भैया ! मैंने आपसे भय-वश नहीं कहा। न जाने आप मानते या नहीं। कोई बात नहीं। अब जो हुआ अच्छा ही हुआ। अब अर्जुन को सत्कारपूर्वक लौटा लाओ।"

यह सुनकर बलरामजी स्वयं गये और आदरपूर्वक अर्जुन को पुरी में लौटा लाये। द्वारका में लाकर उन्होंने शास्त्रीय विधि से सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ कर दिया। दहेज में उन्होंने

वर वधू के लिये बहुत-सा धन, विविध प्रकार की सामग्री, हाथी, घोड़े, रथ तथा बहुत से दास दासी आदि दिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सुभद्रा के साथ विवाह करके अर्जुन एक वर्ष पर्यन्त द्वारकापुरी में रहे, फिर वे पुष्कर क्षेत्र को चले गये। वहाँ कुछ दिन उन्होंने निवास किया वहाँ उनके वनवास के बारह वर्ष समाप्त हो गये। तदनन्तर वे इन्द्रप्रस्थ में आकर अपने सभी भाइयों से तथा द्रौपदीजी से मिले और सुख-पूर्वक रहने लगे। मुनियो! यह मैंने अपने गुरुदेव के मुख से सुनी, अर्जुन और सुभद्रा के विवाह की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! श्रीकृष्ण की कथा सुनते-सुनते हमारी तृप्ति नहीं होती। भगवान् के सम्बन्ध की कोई अन्य कथा सुनाइये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! मुझे भगवान् की भक्तवत्सलता की एक बड़ी ही सुन्दर कथा याद आ गयी, जिस प्रकार भगवान् ने राजा जनक पर और श्रुतदेव ब्राह्मण पर एक साथ कृपा की, उस कथा को अब मैं सुनाता हूँ, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

सुनि बल यादव कुपित चले लड़िबे अरजुन तैं।
हँसें हरि गम्भीर प्रेमयुत बोले तिन तैं॥
है अजेय जग पार्थ बात मत व्यर्थ बढ़ाओ।
करो सुभद्रा ब्याह नेह तैं नगर बुलाओ॥
हरिकी सम्मति समुझि बल, जाय बुलाय कन्या दई।
पाइ परसपर वर वधू, अति प्रसन्नता मन भई॥

—:o:—

राजा जनक और श्रुतदेव विप्र पर कृपा

[११८४]

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ॥
तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाहृतं रथम्।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभुः॥ ❀

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० १६, १७ श्लोक)

छप्पय

अब इक मुनिवर ! कहूँ कृपायुत कलित कहानी।
मिथिलापुरमहँ बसहिँ विप्र श्रुतदेव अमानी॥
भूपति तहँ बहुलाश्व भक्तवर हरि के प्यारे।
दोउनि करन कृतार्थ कृष्ण पुरमाहिँ पधारे॥
पहुँचे मिथिला नगर महँ, बहु ऋषि मुनि हरि संग महँ।
सुनत विप्र नृप हरष तैं, नहीं समाये अङ्ग महँ॥

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् का जैसा भक्त श्रुतदेव विप्र था वैसा ही उस विदेह देश का राजा बहुलाश्व भी था। वह मैथिल वंश में उत्पन्न हुआ था। और बड़ा ही अभिमान शून्य था। राजा और विप्र दोनों ही अच्युत भगवान् के प्रिय थे। उन दोनों पर प्रसन्न होकर भगवान विदेह देश को चले। भगवान् का सारथी दारुक रथ जोडकर ले आया था, उसमे बैठकर तथा बहुत से मुनियो को भी साथ लेकर वे चल दिये।"

अल्प सामर्थ्य के अतिथि को उस समय अत्यन्त असुविधा अनुभव होने लगती है, जब दो भिन्न भिन्न प्रकृति के पुरुष उसे सर्वप्रथम अपने घर में ठहराने का आग्रह करते हैं। जिनसे हमारा अत्यन्त स्नेह है, जिन्हें हम इष्टदेव मानते हैं, जिनकी प्रतीक्षा करते करते हम थक गये हैं, वे ही यदि हमारे यहाँ आ जाय, तो हमारी स्वाभाविक यह इच्छा होगी कि ये सर्वप्रथम हमारा आतिथ्य ग्रहण करें। इष्ट के पधारने पर लोभ हो जाता है कि अधिक से अधिक हम इनके साथ रहें। इसलिये दूसरे चाहने वाले से प्रतिस्पर्धा हो जाती है। यदि प्रतिस्पर्धी धनिक हो, तो कहने को हो जाता है, हमारे यहाँ क्यों आवेंगे महाराज, हम तो दरिद्र हैं, निर्धन हैं। असमर्थ अतिथि ऐसे अवसर पर शङ्कित व्यग्रिमूढ बन जाता है, किन्तु समर्थ स्वामी दोनों का ही परितोष कर देता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको भगवान् की भक्तवत्सलता का एक परम पुण्यप्रद इतिहास सुनाता हूँ। मिथिला देश के प्राय जितने राजा हुए हैं वे सब ज्ञानी हुए हैं, इसीलिये उनकी जनक तथा विदेह संज्ञा पड गयी है। द्वापर के अन्त में इस देश में महाराज बहुलाश्व राज्य करते थे। ये अपने अन्य वंश के राजाओं के समान सत्यवादी, न्यायप्रिय धर्मात्मा और अभिमान शून्य थे। ज्ञानी तो ये थे ही, साथ ही भगवान् के परम भक्त थे। भगवान् वासुदेव के चरणों में उनका दृढ अनुराग था। वे अहिर्निशि भगवान की भक्ति में ही निमग्न रहते थे।

इन्हीं राजा के राज्य में श्रुतदेव नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे। वे बडे ही भावुक सरस हृदय तथा भगवान् के अनन्य भक्त थे। यद्यपि वे गृहस्थ थे, कुटुम्बी थे फिर भी किसी प्रकार का उदर पोषण के निमित्त उद्योग नहीं करते थे, उन्होंने अपने योग क्षेम की चिन्ता भगवान् वासुदेव को सौंप दी थी। अयाचित

वृत्ति से बिना उद्योग किये जो भी कुछ मिल जाता उसी से वे अपना निर्वाह कर लेते। किसी प्रकार के भोगों की स्पृहा न रहने से शान्त, दान्त, पूर्णकाम तथा आसक्ति शून्य थे। अनन्य भावसे वे अच्युत की आराधना में लगे रहते। भगवान् की भी उन पर ऐसी कृपा थी कि उन्हें निर्वाह भर के लिये जैसे तैसे नित्य मिल ही जाता था, कि जितने धन से शरीर यात्रा जिस किसी प्रकार चल सके, उतना ही धन उन्हें मिलता था, उससे तनिक भी अधिक नहीं मिलता। वे तो सन्तोषी थे, उनके परम धन तो भगवान् वासुदेव थे। सांसारिक विषय कितनी भी प्रचुर मात्रा में मिल जायँ, उनसे कभी किसी को शान्ति नहीं होती, प्रत्युत अधिकाधिक अशान्ति ही बढ़ती जाती है। उन ब्राह्मणों को जो भी मिल जाता उसीसे वे अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों का संपादन करते, देवता, पितर तथा ऋषियों का पूजन करते।

जैसे राजा भक्त थे वैसे ही ये ब्राह्मण भी भक्त थे। दोनों ही निरंतर अत्यंत श्रद्धाभक्ति के सहित भगवान् वासुदेव की भक्ति में तल्लीन रहते। भगवान् तो अपने भक्तों पर कृपा करने के लिये सदा व्यग्र बने रहते हैं। उन्हें कृपा करने का व्यसन है, जो उनकी ओर एक पग बढ़ता है, तो वे निन्यानवे पग दौड़कर उसके समीप आकर उसे हृदय से चिपटा लेते हैं। बहुत दिनों तक तो दर्शन नहीं देते, जिससे दर्शनों की उत्कंठा अत्यधिक बढ़ती जाय। जब दर्शनों के लिये भक्त अत्यंत व्याकुल हो जाता है, वह बिना दर्शनों के रह ही नहीं सकता, तब उसकी ऐसी उत्कट इच्छा को देखकर भगवान् स्वयं उसके समीप आते हैं और उसे अपने दर्शनों से कृतार्थ करते हैं।

महाराज बहुलाश्व की और श्रुतदेव ब्राह्मण की जब भगवान् के दर्शनों की इच्छा प्रबल हो गयी, तब भगवान् पर नहीं रहा गया। उन दोनों के ऊपर कृपासागर कृष्ण ने कृपा की। वे उन दोनों को

दर्शन देने मिथिलापुरी जाने के लिये उद्यत हुए। उन्होंने अपने सारथी दारुक नामक सूत से कहा—"दारुक ! तुम शीघ्र ही रथ जोडकर लाओ। मैं मिथिलापुरी जाना चाहता हूँ।"

"जो आज्ञा" कहकर सारथी तुरन्त अश्वशाला मे गया। उसने घोडो को खोला सजाया और रथ मे जोडकर तुरन्त भगवान् के समीप समुपस्थित हुआ। भगवान ने जब देखा, सूत रथ को जोडकर ले आया है, तब वे उसकी परिक्रमा करके सुखपूर्वक उसमें बैठ गये। इतने ही मे भगवान क्या देखते हैं बडे-बडे जटाधारी, लटाधारी, व्रतधारी, ब्रह्मचारी, अनेकों यशस्वी, तेजस्वी तपस्वी उनकी ओर आ रहे हैं। उनमे नारद, वामदेव, अत्रि, भगवान वेदव्यास, परशुराम, असित, अरुणि, मेरे गुरुदेव शुकदेव, बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय तथा च्यवन आदि अनेको मुख्य-मुख्य मुनि थे। उन महान् मुनियों को आते देखकर भगवान् मधुसूदन सहसा रथ से उतर पड़े। उन्होंने सबका अभिनन्दन किया। दोनों ओर से कुशल प्रश्न हुआ। अब मुनियो ने पूछा—"प्रभो ! कहाँ पधार रहे हैं।"

भगवान् ने संकोच के साथ कहा—"कहीं नहीं मुनियो ! तनिक मिथिलापुरी तक जा रहा था। अब आप लोग पधारे हैं, तो आपका सभा में चलकर स्वागत सत्कार करूँगा।"

मुनियों ने कहा—'नहीं, भगवन् ! हम स्वागत सत्कार के निमित्त नहीं आये हैं। आपने कृपा करके हमें दर्शन दिये, कुशल प्रश्न किया यही हमारा सबसे श्रेष्ठ स्वागत सत्कार है। आज आप अपने दो भक्तों को कृतार्थ करने मिथिलापुरी जायँगे, इस बात को हम समाधि द्वारा जानकर ही यहाँ आये हैं। जब भक्त और भगवान् दोनों प्रेम भरित हृदय से परस्पर मे मिलते हैं, तो एक अपूर्व आनन्द होता हैं, एक अवर्णनीय सुख होता है, उसी की अनुभूति करने हम आये हैं। अतः हम भी आपके

साथ-साथ मिथिलापुरी चलेंगे। वहाँ चलकर देखेंगे कि आप अपने भक्तों से कैसे मिलते हैं।"

हँसकर भगवान् ने कहा—"मुनियो! यदि आपकी सबकी इच्छा मिथिलापुरी चलने की है, तो अवश्य चलिये। यह तो मेरा परम सौभाग्य है।" यह सुनकर सभी ऋषि मुनि आकाश मार्ग से योग द्वारा उड़कर भगवान् के रथ के साथ चले। उस समय भगवान् रथ में बैठे हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो सूर्यदेव अपने विशाल रथ मे हों और शुक्र, बृहस्पति आदि ग्रहगण उनका अनुसरण कर रहे हो। जिस-जिस राज्य में होकर जाते, उस-उस राज्य के प्रजागण आगे से आकर उनका स्वागत सत्कार करते, अर्घ्य देकर पुष्प मालायें पहिनाकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते। भगवान् आनर्त, धन्व, कुरु, जाङ्गल, कङ्क, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोशल, अर्ण तथा अन्यान्य भी बहुत से राज्यों में होकर पधारे। जिस राज्य में जाते वहीं हल्ला मच जाता। चिरकाल से भगवान् का यश सुनते-सुनते सभी उनके दर्शनों के लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे, अतः दूर-दूर से असंख्यों नर-नारी आ-आकर पथ के दोनों ओर खड़े हो जाते और अपने नयन रूपी पानपात्रों में भगवान् के उदार हास्य और मनहर चितवन से युक्त मुखारविन्द मकरन्द का अपलक भाव से पान करते रहते। भगवान का देव दुर्लभ दर्शन दिव्य अंजन के सदृश है, जो आँखों में आँजने से तिमिर रूपी अज्ञान को मेटकर दिव्यलोक प्रदान करता है। उस दर्शन रूपी अंजन के लगाने से, जिन देशवासियों की अज्ञान दृष्टि नष्ट हो गयी है, उन पथ में खड़े नर नारियों पर कृपा दृष्टि की वृष्टि करते हुए मन्द-मन्द मुसकराते हुए माधव जा रहे थे। मार्ग में खड़े नर-नारी जगद्वन्द्य भगवान् के यश का सुमधुर स्वर में यशोगान कर रहे थे। भक्तों के द्वारा गाया हुआ वह सुयश दशों दिशाओं में फैलकर उन्हें पावन बना

रहा था। भगवान् अपने आश्रितों को अपनी अनुपम अनुकम्पा से अभय प्रदान करते हुए शनैः-शनैः सबों के चित्तों को चुराते हुए, पथ को पावन करते हुए जा रहे थे। इस प्रकार शनैः-शनैः चलकर मार्ग में विश्राम करते हुए भगवान विदेह नगर में पहुँचे।

राजा श्रुतदेव तो भगवान् का आगमन सुनकर बहुत पहिले से ही उनके स्वागत सत्कार की तैयारियाँ कर रहे थे। ज्यों ही दूतों ने समाचार दिया कि भगवान ऋषि मुनियों के सहित नगर के निकट पहुँच गये त्यों ही राजा अपने मन्त्रियों, पुरजनों और पुरोहित को सङ्ग लिये हुए नगर के बाहर आये। राजा के सेवक पूजन की सभी सामग्रियों को लिये हुए थे। पुरवासियों में भी कोई ऐसा नहीं था, जो रिक्त हस्त हो किसी के हाथ में फल थे, किसी के हाथ में कदमूल तथा कोई पुष्प ही लिए थे। जैसी जिसकी सामर्थ्य थी, वैसी ही वह पूजा की सामग्री लिये हुए था। "भगवान् के दर्शन होंगे" इस बात को स्मरण करके सभी अत्यन्त प्रसन्न थे। उस भीड़ में निर्धन, दीन, हीन श्रुतदेव भी एक कोने में छिपा बैठा था। सभी ने देखा ऋषि मुनियों से घिरे भगवान विशाल गरुड़ की ध्वजा वाले रथ पर बैठे हुए आ रहे हैं। सभी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए भगवान् का जय जयकार किया। सबने यह भी सुन रखा था कि भगवान् के साथ व्यास, नारद तथा अन्यान्य मुनीश्वर भी आ रहे हैं। भगवान् के आस-पास उन मुनीश्वरों को देखकर सभी ने हर्षित हृदय से हाथों की अञ्जलियाँ बाँधकर उन्हें सिर पर रखकर श्रद्धाभक्ति सहित सबको प्रणाम किया। महाराज बहुलाश्व ने मन में सोचा—भगवान वासुदेव मेरे ही ऊपर कृपा करने मिथिलापुरी में पधारे हैं, इधर श्रुतदेव भी यही सोच रहे थे, विदेह नगर में एकमात्र मुझे ही कृतार्थ करने कृपालु कृष्ण आये हैं।

भगवान् को देखते ही महाराज दंड के समान भूमि पर लेट

गये, उनके समीप ही विप्रवर श्रुतदेव भी श्रद्धाभक्ति सहित साष्टांग प्रणाम कर रहे थे। प्रणाम के अनन्तर ब्राह्मण ज्यों ही भगवान् को अपने घर पर चलने का निमन्त्रण दे रहे थे, त्यों ही राजा ने भी निमन्त्रण दिया। दोनों का ही निमन्त्रण एक साथ मिला। अब भगवान बड़े असमञ्जस मे पड़े। यदि ब्राह्मण के यहाँ नहीं जाते हैं, तो ब्राह्मण सोचेगा – मुझे दीन, हीन, निर्धन समझकर भगवान् ने ठुकरा दिया। यदि राजा के यहाँ पहले नहीं जाते है तो इसका अपमान होता है, यह भी मेरा अनन्य भक्त है यही सब सोचकर भगवान ने दोनों का ही निमन्त्रण एक साथ ग्रहण किया। दोनों को ही प्रिय करने के लिये उसी समय उन्होंने दो रूप बना लिये। समस्त ऋषि मुनियों के भी दो-दो रूप बना दिये। एक रूप से तो उन्होंने ऋषि मुनियों के सहित ब्राह्मण के घर में प्रवेश किया और दूसरे रूप से राजा के महल में गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पहिले राजा के ही आतिथ्य का मैं वर्णन करता हूँ, फिर द्विजवर श्रुतदेव के आतिथ्य का वर्णन करूँगा। राजा श्रुतदेव समझते थे, मुझमे भक्ति नहीं है, अनुरक्ति नहीं है। विप्रवर श्रुतदेव भक्त हैं, मुझसे सब प्रकार से श्रेष्ठ हैं, इनके निमन्त्रण करने पर भगवान् अवश्य ही इन्हीं के घर जायँगे, क्योंकि माधव तो भक्तिप्रिय हैं, जहाँ भक्ति देखते हैं, वहीं जाते हैं, किन्तु जब उन्होंने देखा, भगवान् ब्राह्मण के यहाँ न जाकर समस्त ऋषि मुनियों के सहित मेरे यहाँ पधार रहे हैं, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। भगवान् की भक्तवत्सलता और कृपालुता का स्मरण करके उनके हृदय मे अत्यन्त ही उल्लास उठ रहा था। उन महामनस्वी महाराज बहुलाश्व के नयनों से नेह का नीर बह रहा था। वे सोच रहे थे—अहा! जिन परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर का दर्शन तो मुझ जैसे दुराचारी के लिये दूर रहा, नाम श्रवण करना भी कठिन है, वे ही आज मेरे स्थान को

अपने चरणों की रज से पावन करेंगे। आज मैं धन्य हो गया, कृतार्थ हो गया। मनुष्य जन्म का सर्वश्रेष्ठ उत्तम फल आज मैंने प्राप्त कर लिया। इस प्रकार मनोरथ करते हुए महाराज जनक भगवान् श्री कृष्णचन्द्र को मुनियो सहित अपने महलो को ले गये। घर पहुँचने पर महाराज ने भगवान को तथा समस्त ऋषि मुनियों को उत्तम-उत्तम आसनो पर बिठाया। फिर कुटुम्ब सहित आकर सबके पादपद्मों मे प्रणाम किया। सुवर्ण के पात्रो मे भगवान् के तथा समस्त मुनियों के लोकवन्दित चरणारविन्दो को धोया। उस परम पुनीत पय को सबने पान किया, मस्तक पर चढाया। फिर सबकी गन्ध, पुष्प, माला धूप, दीप, वस्त्र, अलङ्कार, अर्घ्य, गौ तथा वृषभ आदि अर्पण करके विधिवत पूजा की। पूजा के अनन्तर नाना प्रकार से षडरसपूर्ण व्यजनों से सभी को तृप्त किया। पुनः सुखपूर्वक बैठने के अनन्तर भगवान् के परम मृदुल जगत् को पावन करने वाले पादपद्मो को अपनी गोदी मे रखकर तथा उन्हें शनैः-शनैः दबाते हुए महाराज बहुलाश्व बोले—"हे अशरण शरण! हे भक्तवत्सल! हे शरणागत प्रतिपालक! हे विभो! आप समस्त प्राणियो के आत्मा तथा साक्षी है। आपको किसी भी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं। आप तो स्वय ही प्रकाशस्वरूप है, आपके ही प्रकाश से यह दृश्य प्रपञ्च प्रकाशित हो रहा है। संसार मे जितनी भी चेष्टायें हैं, सब आपकी ही प्रेरणा से हो रही हैं। आप नित्य तृप्त हैं, आपको किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं, कामना नहीं, फिर आप शरणागत रक्षक हैं, दीनदयालु हैं, इसीलिये हम दीन हीनों पर दया करके आपने अपने देवदुर्लभ दर्शन दिय। प्रभो! हम आपकी शरणागत वत्सलता के विषय मे और कह ही क्या सकते है?"

भगवान् ने कहा—"राजन! तुम मेरे अनन्य भक्त हो, तुम्हारा चित्त सदा मुझमे लगा रहता है। मेरे तो तो सर्वस्व भक्त-

ही हैं। भक्त जितने मुझे प्रिय हैं, उतने प्रिय मुझे अपने बड़े भाई बलरामजी भी नहीं हैं, सदा मेरे पैरों को पलोटने वाली लक्ष्मी भी मुझे उतनी प्यारी नहीं हैं। मेरे पुत्र ब्रह्माजी भी मुझे उतने प्रिय नहीं हैं, जितने की आप जैसे अनन्य भगवद्भक्त प्रिय हैं। इस लिये राजन्! मैं तुम्हें देखने के लिये ही आया हूँ।"

राजा ने प्रेमाश्रु बहाते हुए कहा—"क्यों न हो भगवन! तभी तो आप दीनानाथ दीनबन्धु कहाते हैं। आप अपने विरद को सत्य बनाने के लिये ही तो हम दोनों को दर्शन देने के निमित्त ही तो यहाँ पधारे हैं। जिसने आपकी दयालुता का अनुभव कर लिया है, ऐसा कौन पुरुष होगा, जो आपके पादपद्मों को भुला सकता है। हे आप्तकाम! आपके लिये कुछ भी वस्तु अदेय नहीं है। जिन्होंने अपना सर्वस्व आपके चरणारविन्दों में अर्पित कर रखा है, ऐसे अनन्य उपासक, निष्किञ्चन, शान्त, दान्त, भगवद्-भक्तों को आप कुछ भी देने में आना कानी नहीं करते, यहाँ तक कि आप अपना स्वरूप भी उन्हें दे देते हैं।"

भगवान् ने कहा—"राजन्! पृथ्वी सहित समस्त देवताओं की प्रार्थना से भू का भार उतारने के लिये मैंने यदुकुल में अवतार लिया है।"

राजा ने कहा—"प्रभो! भू का भार उतारना तो आपके अवतार का अत्यन्त गौण कारण है, पृथ्वी का भार तो आपके संकल्प मात्र से उतर सकता है। आप तो इन जन्म-मरण रूपी चक्की के दो पाटों के बीच में निरन्तर पिसते हुए प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त, शान्ति रूपी पय के बिना पिपासित प्राणियों को शान्ति रूपी सुधा पान कराने के निमित्त तथा त्रिलोकी के पापों को नष्ट करने वाले अपने सुयश का विस्तार करने के निमित्त इस धरा धाम पर अवतरित हुए हैं। आप जो अलौकिक, परम सुखद, श्रुतमधुर चरित करेंगे, उसे व्यास वाल्मिकादि कवि-

गण अपनी ललित भाषा मे वर्णन करेंगे। आपके उस जगत् पावन यश को सुनकर प्राणी कृतार्थ होते रहेंगे। सबके अन्तःकरण विशुद्ध बन जायँगे। हे भूमन! आप पुण्यश्लोक हैं, अकुण्ठ बुद्धि हैं, नर नारायण का रूप रखकर आप निरन्तर बदरीवन मे शान्त तप करते रहते हैं। ऐसे शान्त स्वरूप आप श्रीमन्नारायण के पादपद्मों में मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।"

हे कृपासिन्धो! इस दीन, हीन, मतिमलीन अधम को यही प्रार्थना है कि आप कुछ कालपर्यन्त इन तजस्वी, तपस्वी ऋषि मुनियों के सहित दास का आतिथ्य स्वीकार करें और अपने पादपद्मों की पुनीत पराग से इस निमिवंश को पावन बनावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार महाराज बहुलाश्व की बारम्बार विनीत वचनों से की हुई प्रार्थना सुनकर लोक पालक भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए हुए। वे राजा को तथा मिथिलापुरी के नर-नारियों को सुख देते हुए, उन्हें अपने दर्शनों से कृतार्थ करते हुए तथा सबका कल्याण करते हुए कुछ दिन राजा के यहाँ रह गये। अब जिस प्रकार दूसरे रूप से भगवान् ने श्रुतदेव ब्राह्मण के आतिथ्य को ग्रहण किया। उस सरस कथा प्रसङ्ग को मे आगे वर्णन करता हूँ। आप सब श्रद्धा से सुनें।"

छप्पय

दोउनिने इक सग निमन्त्रित श्रीहरि कीन्हें।
दोउनि करन कृतार्थ रूप द्वै हरि धरि लीन्हे॥
एक रूप तैं गये ऋषिनि सङ्ग नृप महलनिमहँ।
अपर रूप धरि गये द्विजनि लै विप्र भवनमहँ॥
भूपति हरि पद गोद धरि, सुहरावें पुनि पुनि कहें।
करें कृपा करुणेश कछु, काल जनकपुर महँ रहें॥

—:—

श्रुतदेव विप्र द्वारा श्री हरि का आतिथ्य

[११८५]

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा ।
नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त ह ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० ३८ श्लोक)

छप्पय

इत द्विज देखे देव दीनके द्वारे आये ।
चरन कमल सिर नाइ विनययुत वचन सुनाये ॥
नित्य निरञ्जन नाथ निरन्तर निकट हमारे ।
अति अनुकम्पा करी अज्ञ अनुचर उद्धारे ॥
करें कहा करुनायतन ! विधिवत बात बताइ दें ।
होंहिँ द्रवित जातें तुरत, साधन सुखद सिखाइ दें ॥

अपूर्ण पुरुष के साधन अपूर्ण होंगे, वचन अपूर्ण होंगे, शिक्षा अपूर्ण होगी। जो पूर्ण को प्राप्त हो चुके हैं जिनकी 'ऋषि' संज्ञा हो गयी है उनके ही वचन प्रामाणिक माने जाते हैं, किन्तु कभी-कभी ऋषियों के वचनों में विभिन्नता दिखायी

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बहुलाश्व के समान ही श्रुतदेव ब्राह्मण भी अपने घर में आये हुए भगवान् अच्युत तथा सभी मुनीश्वरों को प्रणाम करके अत्यन्त हर्षित होकर दुपट्टे को हिलाता हुआ नृत्य करने लगा।"

देती है, इसीलिये भगवान् स्वयं साक्षात् रूप से अवतरित होकर उपदेश देते हैं, साधन बताते हैं और अपने अनुचरों को उद्धार-का मार्ग बताते हैं। भगवान् जगद्गुरु हैं। वे ही अनेक रूप रख कर-गुरु बनकर जीवन की डगमग करती नौका को उस पार लगाते हैं। जिसके पास श्रद्धा का सम्बल होता है वह तो पार हो ही जाता है, जो संशयात्मा है अश्रद्धालु हैं जो अपने को ही सब कुछ समझता है, वह डूबता उतराता रहता है, उसके लिये किनारे दूर हो जाते हैं। श्रद्धा और विश्वास को भी भगवान् ही देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक रूप स तो भगवान् मिथिलाधिप महाराज बहुलाश्व के साथ गये और दूसरे रूप से श्रुतदेव ब्राह्मण के घर गये। ऋषियों के भी दो रूप बना लिये थे। राजा और ब्राह्मण दोनों को ही ऐसा विदित हुआ कि भगवान् ऋषि मुनियों के साथ मेरे ही यहाँ जा रहे हैं। श्रुतदेव ब्राह्मण ने जब देखा भगवान् बड़े ब्रह्मण्य हैं, वे इतने बड़े धर्मात्मा, यशस्वी, कुलीन, सदाचारी, महान् वेभवशाली राजा को छोड़कर मुझ दीन, हीन, निर्धन ब्राह्मण के यहाँ चल रहे हैं, तब तो उनके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। भगवान् वासुदेव के ऋषि मुनियों के सहित चरणारविन्द जब उनके घर में पड़े तब तब तो वे प्रेम के कारण विह्वल हो गये और अपने दुपट्टा को वायु में फहराते हुए नृत्य करने लगे। उन्हें शरीर की भी सुधि बुधि नहीं रही। कुछ काल में प्रकृतिस्थ होने पर उन्होंने पूर्णकाम प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम किया तथा समस्त ऋषि मुनियों की भी चरण वन्दना की। भगवान् को अपने यहाँ देखकर ब्राह्मण हड़बड़ा रहा था। उसे सूझता ही नहीं था क्या करें, दौड़कर कुश के बहुत से आसनों को उठा लाया। फिर सोचने लगा—भगवान् को ऊँचे बैठाना चाहिये। कहाँ से पीढ़ा ले आया, चटाई बिछा दी। बार बार कहता "प्रभो!

यह दास अत्यन्त दीन है, स्वामिन् ! आपको कष्ट तो होगा ही, किन्तु मैं असमर्थ हूँ आपके कृपा के ही सहारे जीवित हूँ। हे
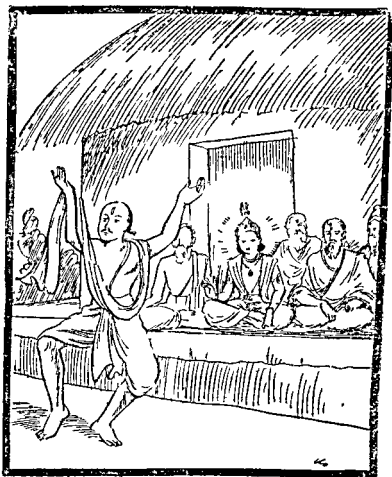
मङ्गलमूर्ति ! आपको मार्ग में कोई श्रम तो नहीं हुआ ?"

ब्राह्मण इस प्रकार स्वागत प्रश्नादि करता हुआ प्रेमपूर्ण

स्नेहभरित गद्गद वाणी से ये बातें कह रहा था। उसी समय ब्राह्मणी कमण्डलु भरकर जल और पात्र ले आयी। उसने कहा—'भगवान् के चरणों को तो धो लो।"

हडबडाकर ब्राह्मण बोला—"हाय! मैं तो भूल ही गया था। ला ला, इन्हीं चरणारविन्दों से तो जगदुद्धारिणी भगवती गङ्गाजी प्रकट हुई हैं। हमारे तो घर बठे गङ्गाजी आ गयीं। यह कहकर हर्षपूर्वक सकुटुम्ब विप्र ने भगवान के चरणों को धोया। उस चरणोदक से महाभाग्यशाली श्रुतदेव ने अपने को तथा अपने समस्त कुटुम्ब परिवार वालों को अभिषिक्त किया। सिर पर चढाकर उसे अपने समस्त घर में छिडका। आज प्रभु के पादपद्मों के स्पर्श से उसके समस्त अघ दूर हो गये थे। प्रभु के पादपद्मों के प्रक्षालन करने से वह अपने को कृतकृत्य समझने लगा। भगवान् के दर्शन, पूजन करने से उसके सब मनोरथ पूर्ण हो गये थे।

पादप्रक्षालन के अनन्तर उसने सुन्दर-सुन्दर कन्दमूल, फल, तुलसीदल, फूल, गन्ध, खस से सुवासित जल, कस्तूरी, कुश, कमल तथा अन्यान्य भी जो वस्तुएँ उसे अनायास प्राप्त हो गयीं थी, उनसे भगवान् का सात्विकी पूजा की। समा, तिन्नी आदि सात्विक ऋषिअन्न का भोग लगाया। वह बार बार अपने भाग्य की सराहना कर रहा था वह सोच रहा था—'मैं तो बडा पतित हूँ। गृहरूपी अन्धकूप में पडा हुआ हूँ। मुझ जैसे साधनहीन दरिद्र विप्रबन्धु का इतना भाग्योदय कैसे हो गया। मुझे भगवान् के और उनके भक्तों के दर्शन कैसे हो गये। ये ऋषि मुनि स्वयं तीर्थ स्वरूप हैं। तीर्थों में तीर्थत्व स्थापित करते हुए ये घूमते रहते हैं। इनके चरणों की रज जहाँ पड जाती है, वह स्थान तीर्थ न होने पर भी तीर्थ बन जाता है। जिनके मन में माधव की मङ्गलमयी मूर्ति सदा बसी रहती है। उन महान् से भी महान्

मुनीश्वरों का दर्शन मुझ जैसे अधम को कैसे हो गया। भगवान् ने मेरे उपर अहैतुकी कृपा की। बिना हरि की कृपा से सन्तों का दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ है।"

इस प्रकार अपने भाग्य की सराहना करता हुआ वह भाग्यशाली ब्राह्मण भगवान् से हाथ जोड़कर कहने लगा। उस समय उसके कुटुम्ब परिवार के लोग, स्त्री, बच्चे, बूढ़े सब बैठे हुए थे। भगवान् ऋषि मुनियों से घिरे हुए विराजमान थे। श्रुतदेव के सात्विक आतिथ्य सत्कार का स्वीकार करके सर्वेश्वर श्री हरि सुख पूर्वक बैठे हुए थे। ऐसे भगवान् के चरणों का स्पर्श करके ब्राह्मण बोला—"प्रभो! मैं कृतार्थ हो गया। धन्य हो गया।"

भगवान् ने कहा—"विप्रवर! तुम मेरे बड़े भक्त हो। मैंने सोचा—मिथिलापुरी चलकर तुम्हें देखूँ। इसीलिये आज यहाँ आया।"

यह सुनकर ब्राह्मण कहने लगा—"प्रभो! आप में आना जाना कहाँ सभव है। मुझे आप महापुरुष के दर्शन नये हुए हो सो बात नहीं। आप तो सनातन हो, सर्वगत हो, सबके आदि कारण हो। जबसे आपने अपनी शक्तियों से इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है और इसे रचकर स्वय इनके अणु परमाणु में प्रवेश किया है, तभी से आप सबसे मिले हैं। ऐसा वस्तु का अस्तित्व नहीं जिसमें आप न हों, आप उसमें छिपकर न बैठे हो।"

भगवान् ने कहा– "भाई, मैं तो यहाँ बैठा हूँ। यहाँ बैठा बैठा मैं सबमें कैसे छिपा बैठा हूँ, इतने भारी जगत् को मैंने कैसे बनाया है।"

ब्राह्मण बोला "प्रभो! आप देश काल की सीमा में सीमित नहीं हैं, आप इस जगत् के एकमात्र अधीश्वर हैं। आपकी प्रेरणा से, इच्छा से, सकल्प से, शक्ति तथा सामर्थ्य से सब कुछ हो रहा है। जैसे एक पुरुष किसी छोटे घर में सो रहा है। स्वप्न में

वह हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, चतुरङ्गिनी सेना की कल्पना करता है, बड़ा भारी राजा बन जाता है, घर, स्त्री, कुटुम्ब, वैभव, सेना, सेवक सबकी कल्पना वह स्वप्न-जगत् में अपने मन से ही कर लेता है। जितनी भी वस्तु वह स्वप्न में देखता है, उन सबका वह द्रष्टा होता है। अपने आप रचना करके अपने आप ही वह भासता है। यह सब तो है अविद्या के कारण। इसी प्रकार आप भी अपनी माया के द्वारा इस चित्र विचित्र संसार की रचना करके इसकी प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट हो जाते हैं और उनके रूपों में भास रहे हैं। हृदय में विराजमान रहते हुए भी अज्ञान-वश प्राणी आपको देख नहीं पाते। हृदय में आपकी अनुभूति नहीं करते।"

इस पर एक मुनि ने कहा—"विप्रवर! जब भगवान् सबके अन्तःकरण में स्थित हैं, तो सबको उनके दर्शन क्यों नहीं होते ?"

यह सुनकर लजाते हुए श्रुतदेव ब्राह्मण ने कहा—"महाराज! मैं क्या जानूं ? मैंने तो आप ही गुरुजनों के मुख से सुना है कि दर्पण में मुख देखने का प्रकाश है, किन्तु उसके ऊपर धूलि जम गयी, तो दर्पण के रहते हुए भी उसमें मुख नहीं दीख सकता। उसमें कहीं से लाकर मुख देखने की शक्ति स्थापित करने की आवश्यकता नहीं। केवल उसकी धूलि झाड देने से ही उसमें मुख देखा जा सकता है। इसी प्रकार सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से अच्युत बैठे हुए हैं, किन्तु अन्तःकरण पर अज्ञान की माया मोह की धूलि जम गयी है। निरन्तर इन भगवान् की भागवती कथाओं के श्रवण से, इनके सुमधुर जगन्मङ्गल नामों के कीर्तन करने से, इनका प्रेमपूर्वक पूजन करने से, इनको बार-बार प्रणाम करने से तथा परस्पर में इनकी ही चर्चा करने से वह धूलि पुछ जाती है, अन्तःकरण रूपी दर्पण निर्मल हो जाता है। उस निर्मल अन्तःकरण में इन अखिलेश्वर का दर्शन होता है।"

भगवान् ने कहा—"भाई! जब मैं इतने समीप हूँ कुछ न कुछ तो मेरा आभास सबको होना चाहिये।"

ब्राह्मण ने कहा—"महाराज! आभास हो कहाँ से। लोग आपको देखना ही नहीं चाहते। किसी का चित्त स्त्री में आसक्त है, किसी का बच्चे में, किसी का धन में, तो किसी का परिवार में, ऐसे ही सबका चित्त लौकिक, वैदिक कर्मों मे आसक्त हो जाने से विक्षिप्त-सा हो रहा है। उसमें आपका आभास कैसे हो। आप ऐसे कर्मों में आसक्त अन्तःकरण में रहते हुए भी उससे बहुत दूर हो जाते हैं आप को कोई चाहे कि अन्तःकरण की जो अहङ्कारादि शक्तियाँ हैं उनसे ग्रहण कर ले तो यह असंभव है। तथापि जो श्रद्धाभक्ति सहित आपके गुणों का गान करते हैं आपके जगत् पावन मधुमय सरस नामों का कीर्तन करते हैं, उनके आप अत्यन्त समीप हैं, उन्हें आपका आभास ही नहीं होता, साक्षात् दर्शन होते हैं। प्रभो! आप आत्मज्ञानियों को अपना परमधाम प्रदान करते हैं। जो इस नाशवान् शरीर को ही आत्मा मानते हैं, उसी के पालन पोषण को परम पुरुषार्थ समझते हैं उन अनात्माभिमानियों को आप आत्मा से भिन्न पुनः-पुनः जन्म-मरण को प्रदान करने वाले संसार की प्राप्ति कराते हैं। प्रकृति इस संसार का कारण है, महत्तत्व अहंतत्वादि इसके कार्य हैं। आप इन कार्य और कारण के शासक हैं। आप पुरुषोत्तम हैं। आपकी माया ज्ञान को आच्छादित करने वाली है, किन्तु आप स्वयं उस माया से अनाच्छादित हैं। आपका ज्ञान अबाधित तथा नित्य है, किन्तु आपकी माया अपर संसारी प्राणियों की दिव्यदृष्टि का निरोध करने वाली है। ऐसे नित्य आनन्दस्वरूप आप सच्चिदानन्दघन प्रभु के पादपद्मों में प्रणाम है।"

भगवान् ने कहा—"विप्रवर! आप बड़े क्लेश से जीवन यापन कर रहे हैं। अयाचित वृत्ति से निर्वाह कर रहे हैं?"

ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! खाने पीने और पहिनने ओढने का क्या क्लेश। आपका विस्मरण होना यही सबसे बड़ा क्लेश है, आपका स्मरण बना रहना यही सबसे बड़ा सुख है। प्राणियों को क्लेश तभी तक रहता है, जब तक आप क्लेशहारी केशव दृष्टिगोचर नहीं होते। जहाँ आपके दर्शन हुए तहाँ दुख, क्लेश, शोक तथा सन्ताप सभी मिट जाते हैं। अब प्रभो! हम यह जानना चाहते हैं कि आपकी सर्वश्रेष्ठ सेवा कौन सी है?"

श्रुतदेव के ऐसे अत्यन्त प्रेममय सुमधुर वचन सुनकर शरणागत भयभञ्जन भगवान् हँसते हुए अत्यंत प्रेम के साथ ब्राह्मण के हाथ को अपने करकमल से पकड़कर कहने लगे—"ब्रह्मन! मेरे आगमन से भी बढ़कर इन तेजस्वी, तपस्वी मुनिवरों का आगमन है। ये सब मंगलमूर्ति हैं। जिन पर ये अत्यंत कृपा करते हैं, उन्हीं के घर ये पधारते हैं। इनके आगमन को तुम अपने अभ्युदय का ही कारण समझो। ये अपनी चरण-रज से सम्पूर्ण लोकों को पावन करते हुए ही विचरा करते हैं। ये सबको पावन बनाने वाले हैं।"

ब्राह्मण ने कहा—'हाँ, भगवन्! ये द्विजगण भूसुर कहाते हैं। जैसे देवता स्वर्ग के सुर हैं। जैसे देवता अपने पूजन करने वाले के हृदय को शुद्ध कर देते हैं। काशी, प्रयाग, पुष्कर तथा कुरुक्षेत्र आदि पुण्यक्षेत्र अपनी सन्निधि में रहने वालों को पवित्र बना देते हैं जैसे नैमिषारण्य हरिद्वार, गंगा, यमुना आदि पुण्य दर्शन, स्पर्शन, पूजन, स्नान तथा सेवन करने वालों को पवित्र बना देते हैं, वैसे ही ये भूसुर पूजन करने वालों को पवित्र बना देते होंगे?"

भगवान् ने कहा—"जैसे देवगण पुण्यक्षेत्र तथा तीर्थादि दर्शन स्पर्श, तथा पूजन करने वालों को पवित्र कर देते हैं, वैसे ही ये ऋषि मुनि पवित्र तो कर ही देते है, किन्तु इनमें एक विशेषता

हैं. देवतादि तो शनैः-शनैः चिरकाल तक सेवन करने पर पवित्र करते हैं, किन्तु ये साधुगण तो केवल दृष्टिमात्र से ही पवित्र कर देते हैं। साधुओं के दर्शनों से ही परम पुण्य होता है।"

श्रुतदेव ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो! आप सर्वान्तर्यामी सर्व-समर्थ होकर भी ब्राह्मणों की इतनी अधिक प्रशंसा क्यों किया करते हैं, आपके सम्मुख ब्राह्मण क्या है। ब्रह्माजी के मुखस्थान से ब्राह्मणों की उत्पत्ति है और वे ब्रह्मा आपके पुत्र हैं, फिर आप ब्राह्मणों की इतनी पूजा क्यों करते हैं?"

यह सुनकर भगवान् बोले—"ब्रह्मन्! वेद मेरा स्वरूप है, उस वेद को जो धारण करते हैं, उन ब्राह्मणों की समता किससे की जा सकती है। ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेना ही बड़े पुण्य का कार्य है, क्योंकि ब्राह्मण तो जन्म से ही श्रेष्ठ है। तिस पर भी यदि वह तपस्या, ब्रह्मविद्या, सन्तोष और मेरी भक्ति से युक्त हो, तब तो कहना ही क्या? ब्राह्मणों को मैं अपना देवता मानता हूँ, इसीलिये मनीषी लोग मुझे ब्रह्मण्यदेव कहते हैं। ब्राह्मण मुझे इतने प्रिय हैं, जितना कि मुझे न तो अपना यह चतुर्भुज रूप ही प्रिय है और न लक्ष्मी, ब्रह्मा तथा संकर्षणादि ही प्रिय हैं। मैं सर्वदेवमय हूँ सब देवता मुझे अपना अधिदेव मानते हैं। किन्तु उन देवताओं में भी देवत्व स्थापन करने वाले वेद हैं और ब्राह्मण उन वेदों को अपने हृदय में धारण करते हैं, ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं। अतः वेदों को धारण करने वाले विप्र साधारण पुरुष नहीं हैं। जो दुर्बुद्धि पुरुष ब्राह्मणों की, गुरु की तथा सबके हृदय में आत्मा-रूप में निवास करने वाले मेरी अवहेलना करते हैं, वे गुणों में दोष देखने वाले हैं, छिद्रान्वेषी हैं। ऐसे द्विजद्वेषी, गुरुद्वेषी और आत्मद्वेषी यदि मेरी प्रतिमा में पूज्यबुद्धि रखकर पूजा भी करते हैं, तो उन्हें पूजा का समुचित फल प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उनकी बुद्धि में तो भेद-भाव है। विप्रों के हृदय में ऐसा भेद-भाव नहीं

रहता। वे मेरा साक्षात्कार करके चित्त में यह निश्चय करते हैं कि सम्पूर्ण चराचर जगत हरिमय है। हरि के अतिरिक्त संसार में कुछ नहीं है। जितने भी ये महत्तत्व, अहंतत्त्व, पञ्चभूत, इन्द्रिय आदि प्रकृति के कार्य हैं ये सब भगवान के रूप हैं। मेरे साथ ये जितने महर्षि हैं उन सबको ऐसा ज्ञान है, अतः तुम इन ब्रह्मर्षियों को मेरा ही रूप मानो, इनकी पूजा में कुछ भी भेद भाव न करना। इनकी पूजा करना ही मेरा सर्वश्रेष्ठ पूजा है। जहाँ इनकी पूजा हुई, समझ लो वहाँ मैं पूजित हो गया। कोई चाहे कि मैं वेदज्ञ ब्राह्मणों का तो अपमान करूँ, और बड़ी सामग्रियों से हवन पूजन करके भगवान् की पूजा करूँ, तो वह पूजा मुझे प्रिय नहीं। इसलिये तुम इन महर्षियों की मेरी बुद्धि से सदा सेवा किया करो। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही साधन है, यही साध्य है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान ने विप्रों की महिमा सूचक उपदेश विप्रवर श्रुतदेव को दिया वैसा ही उपदेश महाराज जनक के महलों में मिथिलाधिप महाराज बहुलाश्व को भी दिया। दोनों ही भगवान् के मुख से ऐसा रहस्यमय उपदेश पाकर कृतार्थ हो गये, दोनों ही श्रद्धाभक्त और अनुराग सहित भगवान वासुदेव का तथा महर्षियों की अभेद बुद्धि से पूजा की। इस प्रकार अनन्त भाव से आराधना करने पर अन्त में उन दोनों को ही परमपद की प्राप्ति हुई। मुनियो! भगवान् बड़े ही दयालु हैं, वे भक्तों के समीप अपनी महत्ता को भूल जाते हैं, उन्हें स्मरण ही नहीं रहता कि मैं जगत्पति हूँ। भक्त उनका भजन करते हैं और वे स्वयं भक्तों का भजन करते हैं। भक्त उन्हें अपना स्वामी सर्वस्व मानते हैं, वे स्वयं भक्तों की भक्ति करते हैं। आप विचारिये, स्वामी के दर्शनों को स्वयं सेवक जाता, किन्तु भगवान जिसे अपना अनन्य भक्त देखते हैं, उसके

दर्शनों को स्वयं जाते हैं, छोटे से भक्त ध्रुव ने हठ किया, आप पर नहीं रहा गया आपने बालक भक्त के दर्शन करने गरुड पर चढ़कर वहाँ आ गये। इसी प्रकार राजा जनक और श्रुतदेव ब्राह्मण इन दोनों को देखने ही भगवान् मिथिलापुरी में आये थे और उनका प्रिय करने के निमित्त कुछ दिनों तक दोनों के यहाँ दो रूप से मिथिला में रहे भी। फिर ब्राह्मण को साथ लेकर उन दोनों को सदुपदेश देकर पुन द्वारकापुरी में आये। मुनियो! यह मैंने भगवान् की भक्तवत्सलता के सम्बन्ध की कथा कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अब आप हमें यह बताइये कि इतनी कथा सुनकर महाराज परीक्षित ने श्री शुकदेवजी से और क्या पूछा ?"

सूतजी बोले—"महाराज! जब महाराज परीक्षित ने भगवान् का यह उपदेश सुना जिसमें उन्होंने श्रुतदेव विप्र से कहा था कि ब्राह्मण वेदों को धारण करते हैं, अतः वे सर्ववेदमय हैं। वेद की श्रुतियाँ ही ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं। तब राजा को शङ्का हुई कि श्रुतियाँ तो गुणमयी हैं, वे निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन कर ही कैसे सकती हैं। ब्रह्म तो सत्-असत् कार्य कारण दोनों से ही परे है, गुण रहित उसका साक्षात् वर्णन तो सम्भव ही नहीं। फिर श्रुतियाँ उसका वर्णन कैसे करती हैं ?

अभिमन्यु तनय महाराज परीक्षित के इस प्रकार पूछने पर मेरे गुरुदेव ने वेद स्तुति सुनायी। उसमें जिस प्रकार निखिल प्रपञ्च शक्तियों के सहित सम्पूर्ण जगत् को अपने में लीन करके सोये हुए परमात्मा की जिस प्रकार श्रुतियों ने स्तुति की है, उसका वर्णन किया है। यह बड़ा ही गूढ़ ज्ञानमय प्रसङ्ग है। इसका वर्णन में कभी यथास्थान स्तुति प्रकरण में करूँगा। अब आप कहें तो मैं एक हँसी की कहानी सुना दूँ जिसमें भोले बाबा ने अपना

भोलापन दर्शाया था, और उस सङ्कट से भगवान् विष्णु ने उन्हें बचाया था। महाराज परीक्षित् के पूछने पर ही मेरे गुरुदेव ने इस प्राचीन इतिहास का वर्णन किया था।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"हाँ, सूतजी! उस कथा को आप हमें अवश्य सुनावें। हमें भगवान् की कथा सुनने में बड़ा आनन्द मिलता है।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं उसी प्रसङ्ग को सुनाता हूँ आप सब सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

हँसि हरि बोले—विप्र वेद जग माहिँ प्रचारें।
शम, दम, संयम, नियम साधि तिनकूँ ते धारें॥
मेरे हू ते पूज्य करें जो अर्चन तिनिको।
समदरसी है जाय भक्त होवे जो उनिको॥
यों सिख दीन्ही द्विज नृपहिँ, कछु दिन रहि पुनि पुर गये।
सुनो कथा अब शम्भु की, विकल असुर वर दै भये॥

हरि हर भक्तों के भेद का रहस्य

[११८६]

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८८ अ० १ श्लोक)

छप्पय

पूछें शुक तैं भूप, प्रभो ! हर मरघट वासी ।
चिता भस्म तनु मलैं दिगम्बर विषय उदासी ॥
तिनिके सबई भक्त घनी मानी भोगी अति ।
बने ठने हरि रहें सुघर सुन्दर कमलापति ॥
लक्ष्मीपति प्रिय घन रहित, शैव धनी बन जात है ।
वैष्णव बनि माँगत फिरहिं, यह का उलटी बात है ॥

जिनके पास जो वस्तु प्रिय होती है, उसे देने में सकोच होता है। जो वस्तु बहुत है जिसका हमारे यहाँ विशेष उपयोग नहीं, उसे जो भी परिचित आकर माँगता है उसे हम बिना विचार के दे देते हैं। जिसे जिस जिस वस्तु की उत्कट इच्छा है,

* श्री शुकदेवजी से राजा परीक्षित् पूछ रहे हैं,—"ब्रह्मन् ! देवता, असुर और मनुष्यों में जो अशिव वेषधारी शिवजी को भजते हैं, वे तो प्रायः धनी होते हैं और सम्पूर्ण भोगों को भोगने वाले होते हैं, किन्तु जो साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् प्रिय विष्णु के भक्त होते हैं वे प्राय धनी तथा भोगी नहीं होते, इसका क्या कारण है, सो कृपया मुझे बतलाइये।'

उसी को वह सर्वश्रेष्ठ वस्तु समझता है। कोई अत्यन्त पिपासित है, प्यास के कारण जिसका कण्ठ सूख रहा है। उसे सुन्दर से सुन्दर संगीत सुनाओ, नयनाभिराम नृत्य दिखाओ, तो उसे कुछ भी अच्छा न लगेगा, उसे तो जल चाहिये जहाँ जल मिलेगा वहीं वह जायगा। इसी प्रकार जिसे संसारी विषयों की चाहना है, वह जहाँ से जिस प्रकार जैसे भी धन प्राप्त हो वैसा ही प्रयत्न करेगा। जिसे भक्ति या मुक्ति की इच्छा है, वह इनकी प्राप्ति जैसे हो, वैसा साधन करेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वेद स्तुति सुनने के अनन्तर महाराज परीक्षित् ने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से पूछा—"प्रभो! मेरा एक प्रश्न है, मुझे एक अनुचित-सी शंका है, आज्ञा हो तो मैं पूछूँ?"

श्री शुकदेवजी ने कहा—"राजन्! तुम भला कभी अनुचित शंका कर सकते हो? तुम्हारी जो शंका होगी, लोककल्याण-कारिणी ही होगी। आप निर्भय होकर पूछना चाहें पूछें।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन देव हैं। एक बार भगवान् विष्णु और ब्रह्मा साथ-साथ जा रहे थे, वहाँ उन्होंने एक बड़ा भारी ज्योतिर्मय दिव्य लिङ्ग देखा। उसका न तो आदि था न अन्त था। भगवान् उसका पता लगाने पाताल में गये, और ब्रह्माजी हंस पर चढ़कर आकाश में शिवलिङ्ग का अन्त देखने गये। ब्रह्माजी को आकाश में कुछ भी पता नहीं लगा, तो वे भी केतकी को साक्षी लेकर लौट आये। उन्होंने आकर कह दिया—"मैंने पता लगा लिया। केतकी ने साक्षी भी दे दी। पीछे जब यथार्थ बात खुली तो ब्रह्माजी को शाप हुआ, वे जगत् में अपूज्य होंगे। तभी से ब्रह्माजी अपूज्य हो गये। उनके पुष्कर क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं ब्रह्माजी का स्वतन्त्र मन्दिर नहीं अब त्रिदेवों में से पूजनीय एक शिवजी रहे-

और एक विष्णु भगवान्। बहुत से लोग शैव हैं, बहुत से विष्णु के पूजक वैष्णव। वैष्णवों की अपेक्षा शिवजी के पूजक अधिक हैं। मनुष्य ही नहीं, जितने असुर राक्षस आदि हैं वे सब शिव के उपासक शैव ही हैं। देवता, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व तथा भूत प्रेत, पिशाच सभी शिव की आराधना करते हैं। यद्यपि शिवजी धनी नहीं हैं। वाहनों में न उनके पास विमान है न रथ ही, एक बूढा-सा बैल है, उस पर स्वयं भी चढ जाते हे पार्वतीजी को भी चढा लेते हैं। शरीर पर वस्त्र नहीं, पहाड पर भी दिगम्बर ही रहते हैं। जाडा न लगे इसके लिये सदा शरीर पर भस्म लगाये रहते हैं। भस्म भी किसी पवित्र स्थान की यज्ञकुंड की नहीं, स्मशान में जहाँ मरे हुए नर-नारी जलाये जाते हैं, उस स्थान की तो भस्म लगाते हैं। उनके ककण, कुंडल मुकुट आदि सुवर्ण अथवा रत्नों के नहीं। विषधर सर्पों के ये सब आभूषण हैं। कठ मे मोतियों मुक्ताओं की अथवा सुगन्धित पुष्पों की माला नहीं। नरमुंडों की वे माला पहिनते हैं। घर में भूँजी भाग नहीं। सदा खप्पर फैलाये देवी अन्नपूर्णा से भीख माँगते रहते हैं। ऐसे विषय भोगों से विरक्त विचित्र वेष बनाये रखने वाले बभोले के जितने भक्तों को हम देखते हैं उनमें से प्रायः सबके सब समस्त भोगों से सम्पन्न और धनिक होते हैं। इसके विपरीत हमारे विष्णु भगवान् सदा बने-ठने रहते हैं। कठ में कौस्तुभमणि लटकाये रहते हैं, किरीटमुकुट, कनककुण्डल, नुपुर, नकबेसर, बाजूबन्द, हार, वनमाला, कंकण, अँगूठी, करधनी, कडे और न जाने क्या-क्या पहिने रहते हैं। पीताम्बर भी रेशमी ओढते हैं। इस प्रकार सदा बने-ठने रहते हैं। उनके समस्त वस्त्राभूषण अमूल्य होते हैं। गरुड पर चढ़ते हैं। सम्पत्ति की अधिष्ठातृ देवी साक्षात् लक्ष्मीजी जिनकी अर्धाङ्गिनी हैं, ऐसे सर्वसमर्थ लक्ष्मीपति के भक्त वैष्णवगण प्रायः दीन हीन धन हीन देखे गये

हैं। उनके समीप भोगों का सामग्री नहीं, किसी भाँति माँग जाचकर निर्वाह करते हैं इसका क्या कारण है। चाहिये तो यह कि लक्ष्मीपति के उपासक लक्ष्मी सम्पन्न हों और दिगम्बर के उपासक निष्किंचन, निस्पृह हों, किन्तु बात इससे सर्वथा प्रतिकूल ही होता है, विरुद्ध स्वभाव वाले इष्टों के भक्तों की विरुद्ध गति होती है, कृपा करके मेरी इस शंका का समाधान कीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब मेरे गुरुदेव से महाराज परीक्षित् ने इस प्रकार शंका की, तो भगवान् शुक कुछ देर तक मौन हो गये और फिर गंभीर होकर बोले—देखिये, राजन्! प्रकृति से महत्तत्व की उत्पत्ति हुई और महत्तत्व से अहंकार की उत्पत्ति हुई। उस अहतत्व के सात्विक राजस और तामस तीन भेद हैं। उस त्रिविध अहंकार से भी दश इन्द्रियाँ पाँच महाभूत और एक मन इस प्रकार सोलह विकार हुए। ये सब प्रकृति की विकृति हैं। इन सबके पृथक् पृथक् अधिष्ठातृदेव हैं। नित्य निरन्तर अपनी माया शक्ति से सम्पन्न सदा शिव भगवान् रुद्र इस त्रिविध अहंकार के अधिष्ठातृदेव हैं। इन सब विकारों के अधिष्ठातृदेवों में से किसी एक की उपासना कर ले तो वह सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है। जैसे नेत्र के अधिष्ठातृदेव सूर्य हैं उनकी उपासना करने वाले को तेज प्राप्त होता है नासिका के अधिष्ठातृदेव अश्विनीकुमार हैं उनकी उपासना करने वाले को नीरोग तथा दीर्घायु की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार सब वस्तुएँ मिल जाती हैं। अहंकार से ही तो सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति है। उसके अधिष्ठातृदेव भगवान रुद्र हैं, उनकी उपासना करने से सम्पूर्ण ऐश्वर्यों की गति को प्राप्त कर लेना स्वाभाविक ही है। त्रिदेवों में से विष्णु भगवान् चरणों के अधिष्ठातृदेव हैं, इनकी उपासना करने वाले को भी अर्थ लाभ की प्राप्ति

होता है, किन्तु जो प्रकृति से परे पुराणपुरुष इन श्रीमन्नारायण की उपासना करते हैं, उन्हें प्रकृति से परे के पदार्थ प्राप्त होते हैं। ये सात्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के गुण हैं। भगवान् श्री हरि तो इन तीनों गुणों से परे हैं जो जिसकी उपासना करता है वह वैसा ही बन जाता है इन मायिक गुणों से रहित निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाला उपासक निर्गुण तो होगा ही। धन ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा तथा समस्त संसारी भोग ये सब तो प्रकृति के अन्तर्गत हैं। जिसके मन में इन प्राकृत पदार्थों के प्रति प्रेम है, वह प्रेम कैसे कर सकता है। जब तक इन धन ऐश्वर्यादि प्राकृत पदार्थों के प्रति वैराग्य न होगा, तब तक पुरुष प्रकृति से परे की बात सोच नहीं सकता। प्राणी धन संग्रह तभी करता है, जब उसे भगवान् पर विश्वास नहीं होता। प्रारब्धवश जो मिल जाय, उससे पेट भर ले। पेट में जितना चला गया, उतना संग्रह कर लेना तो न्याय संगत भी है। यद्यपि पेट में भर लेना यह भी एक प्रकार से संग्रह है, किन्तु इतना संग्रह आवश्यक है। इससे अधिक जो संग्रह करने की इच्छा करता है वह न्याय संगत नहीं। ऐसा संग्रही प्रकृतिमण्डल को पार नहीं कर सकता। वह कितनी भी [illegible] उसका लय प्रकृति में ही होगा। इस विषय में धर्मराज युधिष्ठिर का और षडैश्वर्यसम्पन्न यदुकुलनन्दन भगवान् श्री कृष्णचन्द्र का जो सम्वाद हुआ है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। उसके सुनने से यह विषय स्पष्ट हो जायगा और आपकी समस्त शंकाओं का समाधान हो जायगा।"

महाराज परीक्षित् ने पूछा—"भगवन्! मेरे पितामह धर्मराज युधिष्ठिर का भगवान् वासुदेव से यह सम्वाद कब हुआ और उसमें मेरे पितामह ने क्या पूछा। कृपा करके इस पुण्यप्रद उपाख्यान को आप मुझे अवश्य सुनावें।"

श्री शुकदेवजी ने कहा—"राजन्! महाभारत हो जाने के अनन्तर जब धर्मराज ने राजसूय यज्ञ किये, उनके समाप्त हो जाने के अनन्तर भागवत धर्मों को श्रवण करने की इच्छा से उन्होंने भगवान् से यही प्रश्न पूछा था कि प्रभो! हमने देखा है, आपके भक्त संसार में सदा दुःख ही उठाते रहते हैं। विशेषकर उन्हें द्रव्य का सदा संकोच बना रहता है। यह क्या बात है। आप लक्ष्मीपति होकर भी उन्हें निधन क्यों बनाये रखते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर के इस प्रश्न को सुनकर भगवान् यदुनन्दन हँसे और बोले—"राजन्! मैं जान बूझकर अपने भक्तों को निर्धन बना देता हूँ। कोई मेरी भक्ति करना चाहता है और मेरी भी उस पर कृपा हो जाती है, तो मेरी कृपा प्रत्यक्ष प्रमाण यह है, कि मैं शनैः-शनैः उसके सब धन का अपहरण कर लेता हूँ उसे निष्किञ्चन बना देता हूँ।"

धर्मराज ने पूछा—"मनुष्य को निर्धन बनाने में आपकी क्या कृपा है। निर्धन जीवन तो बड़ा कष्टकर है, लोग निर्धनता के अधीन होकर बड़े से बड़ा पाप कर डालते हैं।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—"नहीं राजन्! सदाचारी पुरुष प्राणों के कंठगत होने पर भी धर्मको नहीं छोड़ते। धन की दरिद्रता बुरी नहीं होती, बुरी तो होती है मन दरिद्रता। जो मन से दरिद्री नहीं है, वह धर्म न रहने पर भी सबसे बड़ा धनी है और जो मन का दरिद्री है उस पर चाहे कितना भी धन क्यों न हो, वह दरिद्री ही है। जिसके पास धन होता है, उसे बड़ा भारी अभिमान होता है। उसका सम्बन्ध धनिकों से होता है। धन के कारण सभी उसका सम्मान करते हैं इससे उसका अभिमान और बढ़ता है, वह गुरुजनों का सन्तों का यहाँ तक कि मेरा भी अपमान करता है। धनी पुरुष को एकमात्र अपने धन का ही भरोसा रहता है। जहाँ भी जायगा धन को

साथ लेकर जायगा। बिना धन के पैर न रखेगा, उसे मेरे ऊपर भरोसा न होकर धन के ऊपर भरोसा रहता है। वह बड़े अभिमान से कहता है—मैं तो चाँदी की जूती मारकर चाहे जिससे जो करा सकता हूँ। यदि मेरे भक्त को मुझ चैतन्यघन पर विश्वास न होकर जड़ धन पर विश्वास हो, तो वह मेरी भक्ति कैसे करेगा। विषय भोगों में फँसे रहने से भक्ति होती तो मनु, प्रियव्रत, उत्तानपाद, तथा अन्यान्य सप्तद्वीपवती पृथ्वी के सम्राट् राज्यपाट छोड़कर वनों को क्यों जाते। इसीलिये मैं अपने भक्त का धन अपहरण करता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तो उसे धन के बिना दुःख पर दुःख उठाने पड़ते हैं। यह संसार तो स्वार्थ का है। जब तक पैसा पास में है, तब तक सभी उससे सम्बन्ध जोड़ने को लालायित रहते हैं। जहाँ वह निर्धन हुआ कि सगे सम्बन्धी, भाई बन्धु सभी उसका परित्याग कर देते हैं। कोई उसकी बात भी नहीं पूछता। पहिले जो बड़ा भारी आदर करते थे, वे देखकर मुख फेर लेते हैं, इससे वह अपना घोर अपमान समझता है। वह अनुभव करता है मेरे धन न होने से ही मेरा सर्वत्र अपमान हो रहा है, इसलिये मैं पूरी शक्ति लगाकर धन प्राप्ति का उद्योग करूँ। यह सोचकर वह उद्योग करता है, किन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिलती, असफल होने पर फिर उद्योग करता है, फिर असफल होता है। इस प्रकार वह बारम्बार उद्योग करने पर भी धन संग्रह करने में सफल नहीं होता, तब धन की चेष्टा से विरक्त होकर अपना कोई साथी खोजता है। संसार में निर्धन का साथी कौन बनना चाहेगा। एक साधुसन्त भगवद्भक्त ही ऐसे हैं, जो धनी निर्धन सबसे प्रेम करते हैं, सभी स्नेहपूर्वक समीप बिठाते हैं। तब वह विपत्ति का मारा साधुओं की शरण में जाता है। जिसके पास विषय भोगों की सब सामग्रियाँ हैं, वह विरक्त

साधु-सन्तों के समीप क्यों जायगा। जायगा भी तो ऐसे ही साधु वेषधारी धनिकों के समीप जायगा, जो उसी की भाँति ठाट-बाट से रहते हैं। आश्रम मठ बनाते हों, परमार्थ के नाम पर व्यापार करते हों, झूठ सच बोलकर, बातें बनाकर कान फूंककर लोगों को फँसाते हों। वे तो उसी के भाई बन्धु हैं। चोर चोर मौसारे भाई। किसी ने रुई, अन्न का व्यापार किया दूसरे ने परमार्थ के नाम पर दलाली की। ऐसे नाम मात्र के साधु तो व्यापारी हैं। निर्धन को वे भी नहीं पूछते। उनके यहाँ भी सफेद वस्त्र वाले गोरे धनिकों की पूजा होती है। धन की चेष्टा से विरक्त हुए व्यक्ति को तो संसार से विरक्त निष्किञ्चन भगवद्भक्त ही आश्रय देते हैं। वे ही उसे धैर्य बँधाते हैं। ऐसे भक्तों से जब उसका मेल जोल हो जाता है, तो फिर मैं उस पर कृपा करता हूँ।

साधु के समीप एक ही चर्चा है, वे उठते बठते चलते फिरते भगवान् की ही बातें करते हैं, वे उनके ही नामों का कीर्तन करते हैं, उनके गुणों का गान करते हैं। उनके साथ रहते-रहते उनकी बातें सुनते-सुनते उसे परमसूक्ष्म, चिन्मात्र, सत्यस्वरूप और अनन्त परब्रह्म की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार मेरी आराधना करना, सरल नहीं है। जो मेरा भजन करना चाहे, वह सर्वप्रथम अपने सिर को काटकर हथेली पर रख ले। यह सोच ले मुझे पगपग पर निर्धनता जनित दुःख उठाना पडेगा। काँटों की शैया पर सोना पडेगा। लोग इसी से डर जाते है। सोचते हैं, अमुक बारह वर्ष से राम राम रटता है, उसे क्या मिल गया। घर घर से भीख माँगकर बडे कष्ट से अपने दिन बिताता है। अमुक ने छे महीने में ही भूत को सिद्ध कर लिया, अब भूत उसे जो चाहता है वही दे जाता है। इसलिये भगवद्भक्ति को छोडकर भूत, प्रेत, पिशाच तथा अन्यान्य धन देने वाले देवों की पूजा करनी चाहिए।" यह

सोचकर वे शीघ्र प्रसन्न होने वाले देवताओं की पूजा करते हैं। देवता जब उसे वर माँगने को कहते हैं, तो वे धन, ऐश्वर्य, बड़ी आयु संसारी भोग तथा और भी ऐसी ही परपीड़न की शक्तियों का याचना करते हैं।" पूजा से प्रसन्न हुए देवता उन्हें उनके माँगने पर धन वैभव आदि देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि वे धन वैभव पाकर उनमत्त हो जाते हैं दूसरों की शक्ति पर पीड़ा के ही निमित्त हुआ करती है। जब वे धन के मद में अन्धे हुए उद्धत और प्रमत्त पुरुष अपने वर देने वाले देवता का भी अपमान करने लगते हैं। रावण को शिवजी से वर प्राप्त हुआ और उनके ही कैलाश को उठाने लगा। वाणासुर ने शिवजी की आराधना करके सहस्र बाहुओं को और अमित बल को प्राप्त किया और उनसे ही लड़ने को उद्यत हो गया। इसलिये मैं अपने भक्तों को धन वैभव नहीं देता, उतना ही देता हूँ, जिससे उनका निर्वाह चलता रहे। अधिक धन वैभव होने से उसी में चित्त फँसा रहेगा, मेरे स्मरण में बाधा पड़ेगी।" इतना कहकर भगवान् चुप हो गये धर्मराज युधिष्ठिर ने भी भगवान् के वचनों का अभिनन्दन किया। उनकी यह जो शंका थी कि हम तो श्रीकृष्ण भगवान को ही सब कुछ समझते हैं, फिर भी हमें सदा वनों में ही रहना पड़ा भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करना पड़ा और यह दुर्योधन सदा भगवान से द्वेष रखता था, फिर भी जीवनपर्यन्त राजसुख भोग कर रहा है, भगवान् के उत्तर से दूर हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! महाराज परीक्षित् के पूछने पर श्रीशुकदेवजी ने यही उत्तर दिया और आगे बताया—"राजन ! शाप और वर देने में ब्रह्मा, विष्णु और महेश समान ही हैं। तीनों ही समर्थ हैं तीनों अभिमत फल दे सकते हैं, किन्तु शिवजी औघडदानी हैं, आशुतोष हैं वे तनिक-सी सेवा से प्रसन्न हो जाते हैं। एक चुल्लू जल चढ़ा दो, आक धतूरे के दो फूल फेंक

दो, गाल बजा दो भोले बाबा इतने पर ही प्रसन्न हो जायँगे। ऐसे ही हमारे ब्रह्मा बाबा हैं। जिसने जो माँगा, तथास्तु कह दिया। किन्तु हमारे ये जो विष्णु भगवान् हैं। ये बड़े टाइयां हैं। ये ऐसे तनिक ही पूजा पर रीझने वाले नहीं। जब तक कोई सर्वात्मभाव से आत्मसमर्पण नहीं करता, तब तक उसे दर्शन भी नहीं देते। शिवजी के भोलेपन से कभी-कभी तो लोग अनुचित लाभ उठाते हैं। उन्हीं से वरदान प्राप्त करते हैं। और उन्हीं पर उसकी परीक्षा करने लगते हैं। कई बार उन्हें स्वयं भी वर देकर पछताना पड़ा। वृकासुर को ही वर देकर संकट में पड़ गये थे, फिर भगवान् ने जैसे-तैसे युक्ति से उस संकट को दूर किया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह वृकासुर कौन था, शिवजी से इसने क्या वरदान प्राप्त किया और शंकरजी कैसे संकट मे पड़ गये, कृपा करके इस इतिहास को हमें भी सुना दीजिये।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! जिस प्रकार मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित् के प्रति इस इतिहास को सुनाया था, उसे ही मैं आपके सम्मुख कहता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

बोले शुक–सुनु नृपति शम्भु अज औघरदानी।
होहिँ शीघ्र सन्तुष्ट लहहिँ वर खल अभिमानी॥
पाइ अमित ऐश्वर्य करें अपमान मवनिको।
प्रकृति परे प्रभु विष्णु टिकै नहिँ चित्त खलनिको॥
करें विष्णु जापै कृपा, निष्किञ्चन ताकूँ करें।
सबकी आशा छोडि जब, आवे तब सब दुख हरें॥

—::—

वृकासुर की कथा

[११८७]

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाऽऽप संकटम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८८ अ० १३ श्लोक)

छप्पय

सुनो एक इतिहास परे हर संकट दै वर ।
आशुतोष शिव समुझि करै तप उग्र वृकासुर ॥
तन को काटै मास अग्नि में होमै ताकूँ ।
बसै तीर्थ केदार भये छै दिन यों वाकू ॥
शिव दरशन जब नहिं दये, सतवें दिन गहि खड्ग खल ।
शिर काटन लाग्यो जबहिँ, प्रकटे शङ्कर शिव विमल ॥

यह जगत् एक विशेष नियमों के आधीन होकर चल रहा है। संसार का नियम है जो जितना देगा, वह उतना पावेगा। न्यायपूर्वक जितना श्रम करेगा उतना उसे प्राप्त होगा। जो इस नियम को न मानकर श्रम तो कम करते हैं और उसका पारिश्रमिक अधिक चाहते हैं, तो उन्हें अन्याय का आश्रय लेना पड़ता

---

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं— 'राजन् ! इस विषय में जिस प्रकार वृकासुर को वरदान देकर श्री शङ्करजी जैसे सङ्कट ग्रस्त हो गये थे, उस प्राचीन इतिहास का बड़े लोग उदाहरण दिया करते हैं वैसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ।" — —

है। अन्याय पूर्वक प्राप्त की हुई विद्या फलीभूत नहीं होती। जो अनियमित लाभ करते हैं, उत्कोच (घूँस) लेकर धन संग्रह करते हैं, वह आता हुआ तो अच्छा लगता है, किन्तु उसका परिणाम दु:खद ही होता है। कुछ लोग किसी की सरलता से उसके साधु स्वाभाव से अनुचित लाभ उठाकर बड़े प्रसन्न होते हैं और मन ही मन प्रसन्न होते हुए कहते हैं—„देखो, मैंने इसे कैसा उल्लू बनाया।" वे यह नहीं सोचते—"अरे, उल्लू तो तुम स्वयं बने। कम परिश्रम करके तुमने जो छल से अधिक वस्तु प्राप्त करली है वह छल ही तुम्हारे सर्वनाश का कारण होगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं आपको वृकासुर असुर का वृत्तान्त सुनाता हूँ। दिति के वंश में शकुनि नामक एक बड़ा भारी बलवान् दैत्य हुआ है। वह बड़ा बली शूरवीर और पराक्रमी था। उसका एक पुत्र था, वृकासुर। वह भी बड़ा बली था। असुरों की एक स्वाभाविक इच्छा होती है कि सब हमारे आधीन रहें। हमारा शरीर सदा अमर रहे। हम ही सब भोगें। हम से अधिक जिस पर भोग सामग्री हो, उसे मारकर उससे सब छीन लें। यही इच्छा वृकासुर की हुई। उसने सोचा— "शीघ्र से शीघ्र कैसे हम श्रेष्ठ बन जायँ। आजकल तो हम से बड़े इन्द्र हैं, वरुण हैं, कुबेर हैं, यमराज तथा अन्यान्य लोकपाल हैं। इन्हें वैसे तो जीत नहीं सकते। ये तपस्या के द्वारा वरदान से जीते जा सकते हैं। बहुत से लोग लाखों करोड़ों वर्ष तपस्या करते हैं, तब कहीं छोटा मोटा वरदान पाते हैं सुनते हैं हमारे ही वंश में हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष ने कितनी उग्र तपस्या की थी। उनके मांस को दीमक खा गयीं थीं, ऐसी तपस्या न करूँगा, मैं तो कुछ ही दिन उग्र तप करके विश्व विजयी बन जाऊँगा।"

यही सब सोच विचारकर वह तपस्या करने के निमित्त

उत्तराखण्ड की ओर चला। जो घर से साधन करने की उत्कट इच्छा से निकलता है, उसे उपदेष्टा सबसे गुरु नारदजी स्वयं मिल जाते हैं। नारदजी का एक मात्र काम ही है, जीवों को भगवान के सम्मुख करना। जो भक्तिभाव से भजन करने वाले होते हैं, उन्हें भक्ति सिखाते हैं, जो कलह प्रिय है, भगवान् से द्वेष करते हैं उन्हे भगवान् के विरुद्ध भड़काकर भगवान् के समीप पहुँचा देते हैं। किसी भी प्रकार से जीव भगवान् के सम्मुख पहुँच जाय, वहाँ उसका उद्धार हो ही जायगा।

वृकासुर मन में यह सोचता जा रहा था, 'किस देवता का तप करूँ। मुझे तो ऐसा देवता चाहिये जो तत्काल-फल दे, विलम्ब न लगावे।' उसी समय उसे वीणा बजाते, राम-कृष्ण गुन गाते, सामने से आते हुए नारदजी दिखायी दिये। नारदजी को देखकर उसने कहा - "डंडौत बाबाजी।"

नारदजी ने हँसते हुए कहा—"प्रसन्न रहो, बचाजी! कहो कहाँ जा रहे हो? तुम्हारे पिता असुरराज शकुनि तो अच्छे हैं न?"

शीघ्रता के साथ वृकासुर बोला—"हाँ, महाराज सब अच्छे हैं। आप मुझे एक बात बताइये। मैं तपस्या करना चाहता हूँ।"

बीच में ही नारदजी बोल उठे—"धन्य, धन्य! आपका बड़ा अच्छा विचार है। तपस्या करना ही संसार में सार है। यह उत्तराखण्ड तपस्या की ही भूमि है हिमालय में तप कीजिये।"

वृकासुर ने कहा—"अजी महाराज! तपस्या करें तो सही, किन्तु पहिले यह निर्णय हो जाय, किस देवता को प्रसन्न करने की कामना से तपस्या करें। मुझे बहुत समय तो है नहीं कि लाखों वर्ष तपस्या में ही नष्ट कर दूँ। मुझे कोई ऐसा देवता बता दीजिये जो चट पट प्रसन्न हो जाय, बहुत खटपट न करनी पड़े। समय कम से कम लगे, वस्तु अधिक से अधिक मिले।"

यह सुनकर नारदजी कुछ काल तक तो मौन रहे। फिर कुछ सोच समझकर बोले—"सब देवताओं में एक बभोलेनाथ शिवजी ही ऐसे हैं कि वे तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं। जहाँ वे प्रसन्न हुए कि फिर उनसे जो चाहो सो माँग लो उनके लिये कुछ भी वस्तु अदेय नहीं है।"

वृकासुर ने पूछा—"और महाराज! विष्णु कैसे हैं ?"

शीघ्रता के साथ नारदजी बोले—"वत्स! तुम विष्णु का तो नाम ही मत लेना! वे ऐसे देवता हैं कि कोई इनका भजन करे तो ये तारी लगा जाते हैं, उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते, देवता जब बहुत अनुनय विनय करते हैं, संकट बताते हैं, तब कहीं बहुत दिनों में उसकी ओर निहारते हैं। इनकी पूजा में भी बड़ा झञ्झट है दूध लाओ, दही लाओ, शहद, घी, चीनी, वस्त्र अलंकार, एक झञ्झट हो, तो बताये। शिवजी ही अच्छे हैं एक चुल्लू जल चढ़ा दिया, गाल बजा दिये, हो गयी पूजा। ये प्रसन्न भी तनिक देर में हो जाते हैं।"

वृकासुर ने पूछा—"महाराज! एक सप्ताह का समय तो मैं दे सकता हूँ, एक सप्ताह में प्रसन्न हो जायँगे ?"

नारदजी ने कहा—"अरे, एक सप्ताह तो बहुत है, वे तो इसके बीच में ही प्रसन्न हो सकते हैं। तुम सीधे केदारनाथ में चले जाओ। वहाँ केदारगंगा में स्नान करना, शिवजी का पूजन करना। जितनी ही उग्र तपस्या करोगे उतनी ही शीघ्र सिद्धि होगी।"

यह सुनकर असुर नारदजी को प्रणाम करके केदार क्षेत्र की ओर चला गया। वहाँ पहुँचकर उसने एक स्थान में बैठकर तपस्या आरम्भ की। उसने सोचा—"मुझे शीघ्र से शीघ्र सिद्धि लाभ करनी है, अतः मैं ऐसी घोर तपस्या करूँ, जैसी

तक किसी ने न की हो। शिव मेरी तपस्या को देखकर चकित हो जायँ। यह सोचकर उस असुर ने एक कुंड बनाया, उसमे अग्नि प्रज्वलित की। अग्नि को ही महादेवजी का मुख मानकर वह अपने शरीर से मास काट-काट कर उसी का हवन करने लगा। यह बडा दुष्कर कर्म था। छ दिनों तक वह ऐसे ही हवन करता रहा शिवजी के उद्देश्य से वह घोर तामस तप करने लगा। वह तो हाथ पर तुरन्त सरसो जमाना चाहता था। शीघ्रातिशीघ्र अपने मनेरथ को मूर्तिमान् हुआ देखना चाहता था। जब उसने देखा, छ दिन हो गये और आशुतोष शिवजी न उसे अभी तक दर्शन नही दिये, तब तो उसे बडा निराशा हुई। उसने सोचा—"शिवजी ऐसे नहीं मानेंगे, लाओ में अपने आप को ही इस वेदी पर बलिदान कर दूँ।" ऐसा निश्चय करके उसने केदारतीर्थ में स्नान किया। स्नान करने से उसकी लम्बी-लम्बी जटायें भीग रहीं थीं। आज उसने अपने आपको अत करन का दृढ सकल्प कर लिया था, उसने एक हाथ मे खड्ग लिया, ज्यों ही वह अपने खड्ग से अपना ही सिर काटने को उद्यत हुआ, त्यों ही परम कारुणिक कपर्दी भगवान् आशुतोष अग्निदेव क सदृश उस हवन कुन्ड से प्रकट हो गये और अपनी विशाल भुजाओं से उसके दोनों हाथो को पकडते हुए उसे ऐसा करने स रोका। परम कारुणिक भगवान् भूतनाथ का सुखद स्पर्श पाते ही उसका सम्पूर्ण शरीर ज्यों का त्यों हो गया। जिन जिन अङ्गों से उसने मास काटा था, वे सब अङ्ग परिपुष्ट और बलिष्ठ हो गये। हँसत हुए पार्वतीपति उस असुर से बोले—"अरे, असुर वर! तुम ऐसा दुस्साहस क्यों कर रहे हो?

असुर ने हाथ जोड कर कहा—"प्रभो! आप ने मुझे दर्शन नहीं दिया था, इसीलिये मैं ऐसा साहस करने के लिये उद्यत हुआ कि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो?"

शिवजी ने कहा—"अरे, भैया ! मेरी प्रसन्नता के लिये यह सब करने की क्या आवश्यकता है ? मैं तो अपने भक्तों पर केवल एक चुल्लू जल चढाने पर ही प्रसन्न हो जाता हूँ। मेरी प्रसन्नता के लिये ऐसा कायक्लेश करना व्यर्थ है। अस्तु, जो हुआ सो हुआ, तू अपना इच्छित वर मुझसे माँग ले। मैं तुझे वर देने के ही निमित्त आया हूँ। सकोच करने की आवश्यकता नहीं।"

असुर ने सोचा—"बहुत से असुरों ने न मरने के वर माँगे वे भी मारे गये, बहुतों ने अपराजित होने के वर माँगे, वे भी पराजित हो गये। मैं ऐसा वर माँगू कि कोई शत्रु मेरे समीप आने ही न पावे। जिस पर धन रत्न देखूँ वही मर जाय।' यही सब सोचकर उसने कहा—"प्रभो ! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मैं जिसके भी सिर पर अपना हाथ रख दूँ, वह तुरन्त मर जाय।"

शिवजी ने देखा कि इसने तो सम्पूर्ण प्राणियों को भय देने वाला बडा ही भयकर वर माँगा है, तो वे कुछ खिन्न हुए, किन्तु अब करते ही क्या, वचन हार चुके थे, दूसरे सीधे साधे भोले बाबा ठहरे। भगवान् विष्णु होते तो कोई युक्ति भिडाकर कुछ का कुछ कर देते, किन्तु ससार में सरल सीधे पुरुषों को सभी ठगना चाहते हैं, यद्यपि दूसरों को ठगने वाला स्वय ही ठगा जाता है, उसे लाभ नहीं होता, फिर भी वह दूसरों के साथ छल करने में चूकता नहीं। शिवजी तो भोले बाबा ही ठहरे। उन्होंने सोचा—'मैं वचन देकर भी इसे इसका इच्छित वर न दूगा, तो जगत् में मेरी अपकीर्ति होगी। अब चाहे जैसे हो इसे वर तो देना ही है। ऐसा सोचकर ऊपर से हँसते हुए शिवजी बोले—"अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।" वृषभध्वज ने उस असुर को वर क्या दिया, मानों विषधर सर्प को दूध पिलाकर उसके विष को और बढा दिया। शिवजी से वर पाकर अब तो वह बडा प्रसन्न हुआ।

सम्मुख उसने त्रैलोक्य सुन्दरी जगन्माता भगवती पार्वतीजी को बैठे देखा। असुर तो असुर ही ठहरा, उसके मन में पाप के अतिरिक्त और आ ही क्या सकता है। वह सोचने लगा—"देखो यह पार्वती कितनी सुन्दरी है, कैसी सजी बजी बैठी है। यह तो इतना सुन्दरी है और पाले पड़ी है इन भूतनाथ के, जिनके न तन पर कपड़ा, न रहने को घर द्वार। दिगम्बर होकर श्मशान में घूमते रहते हैं। यह सुन्दरी तो रानी बनने योग्य है। यदि मुझे यह मिल जाय, तो मैं इसे अपने महलों में रखूँ। किन्तु जब तक भोले बाबा हैं, तब तक यह मेरे साथ कैसे जायगी। इसलिये लाओ पहिले इनके ही सिर पर हाथ रखकर इन्हें भस्म कर दूँ। इससे एक पन्थ दो काज हो जायँगे। वरदान की परीक्षा हो जायगी और त्रैलोक्य सुन्दरी स्त्री मिल जायगी।।" यही सब सोच विचारकर वह महादेवजी के मस्तक पर वर की परीक्षा लेने, हाथ रखने को आगे बढ़ा। शिवजी कहा—"अरे, क्या करना है भाई!"

असुर ने कहा—"कुछ नहीं महाराज! आपके वरदान की परीक्षा करता हूँ।"

शिवजी अब उसके अभिप्राय को समझ गये, वे मुट्ठी बाँधकर दौड़े। असुर भी कुछ कम नहीं था। वह तो उसे सदाशिव भोले-नाथ का वर भी प्राप्त हो चुका था, वह भी उनके पीछे पीछे दौड़ा। आगे आगे जगद्गुरु शिवजी दौड़े जा रहे थे, उनके पीछे-पीछे चेलाजी दौड़े जा रहे थे। शिवजी पहिले पृथ्वी के सब स्थानों में दौड़े गये, वहाँ भी रक्षा न देखकर स्वर्ग में गये, आकाश, पाताल तथा दशों दिशाओं में गये। जहाँ भी जाते, वहीं के लोग घबरा जाते शिवजी ने वरदान को अन्यथा करने की शक्ति किसमें थी। सभी शिवजी के वरदान की बात सुनकर सहम जाते। शिवजी ने देखा मेरे सङ्कट दूर होने का वैकुंठपति के अतिरिक्त कोई अन्य

स्थान नहीं है, तो तम से परे नित्य निरन्तर प्रकाशमय सनातन वैकुण्ठधाम की ओर चले।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार बड़ी युक्ति से भगवान् श्रीहरि शिवजी के संकट को दूर करेंगे, उस कथा का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कहैं—अरे, क्यौं मरै मोगु वर मत घबरावै।
माँग्यो वर—कर धरूँ जासु सिर सो मरि जावै॥
आशुतोष है विमन दयो वर खल सुख पायो।
भयो विमोहित शिवा रूप लखि चित्त चलायो॥
करूँ परीक्षा शम्भु सिर, कर धरि यदि मर जायँगे।
मिलै सुन्दरी शिवा अरु, सबरे सुर डर जायँगे॥

शम्भु संकट विमोचन

[११८८]

य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः
परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः।
गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा
विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८८ अ० ४० श्लोक)

छप्पय

घरन शम्भु पै हाथ बढ्यो खल हर घबराये।
भागे मुट्ठी बाँधि लोकपालनि पुर आये॥
वृक हू वर तैं बढ्यो भगे सँग शिव के मग महँ।
कौन अन्यथा करे शम्भु के वर कूँ जग महँ॥
और उपाय न देखि हर, भागि चले वैकुण्ठपुर।
रमारमन जहँ रमा सँग, करहिँ कलित क्रीड़ा सुघर॥

लोग अपने को बहुत बुद्धिमान लगाते हैं, किसी से कोई भूल हो जाती है, तो उसकी हँसी उड़ाते हैं, उसे मूर्ख बताते हैं, और

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन! साक्षात् परमात्मा श्रीहरि मन और वाणी आदि की विषय न होने वाली शक्तियों के समुद्र हैं तथा प्रकृति आदि से अतीत हैं, उनके इस शम्भुविमोचन नामक चरित्र को जो मनुष्य कहता है अथवा सुनता, है वह संसार बन्धन से तथा शत्रुओं के भय से विमुक्त हो जाता है।"

कहते है—"तुम इतना भी नहीं सोच सकते थे कि इसका परिणाम क्या होगा। दूसरो को तो ऐसा कहकर मूर्ख बताते है, जब स्वयं अपने आपसे ऐसी भूल हो जाती है, तो पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं—क्या करें उस समय मेरी मति ऐसी भ्रष्ट हो गयी कि आगे की बात सोच ही न सका। ऐसा ही होना था, भवितव्यता को कौन मेट सकता है।" वास्तविक बात यही है, जिससमय जैसा होता होना है, वैसी ही मति बन जाती है। श्री रामचन्द्रजी क्या जानते नहीं थे कि सुवर्ण का मृग होता ही नहीं, किन्तु भावी की प्रबलता प्रदर्शित करने के लिये उसके पीछे भागे। भगवान् की यह गुणमयी माया ऐसी प्रबल है कि बडे बडे ज्ञानी ऋषि मुनि इसके चक्कर में फँसकर न करने योग्य कामो को कर डालते हैं। एक बार नहीं अनेक बार। यह जानते हुए भी कि यह कार्य बुरा है, इसके करने से दुःख ही दुःख होगा, फिर भी रहा नहीं जाता, अवसर आने पर फिसल ही जाते हैं। जब ज्ञानियो की यह दशा है, तो असुर प्रकृति वालो के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या। भगवान् की माया ने लोगों पर ऐसा जाल बिछा रखा है कि प्राणी विवश हो जाता है, जब भगवान् की माया मे इतनी मोहकता है तब यदि स्वय ही वे मोहन रूप रखकर किसी को मोहना चाहें तो वह कैसे मोह मे न आवेगा वह तो फँस ही जायगा। किन्तु भगवान् के सम्मुख का मोह भी अच्छा ही है उनके सम्मुख जो ज्ञान से पहुँचा, अज्ञान से पहुँचा, प्रेम से पहुँचा मोह से पहुँचा उसका बेडा पार ही है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब वृकासुर शिवजी के वरदान से उन्हें ही भस्म करने की इच्छा से उनके पीछे दौडा, तो शिवजी ने किसी लोक मे अपनी रक्षा को स्थान न पाया। अब वे उस वैकुण्ठ धाम की ओर चले जिसमें शान्त दान्त सबको अभय प्रदान करने वाले परमहंस मुनिगण जाते हैं। जहाँ

कमला के साथ कमलनयन निरन्तर निवास करते हैं; जो प्रकृति से परे परमोत्कृष्ट धाम है जो प्राणीमात्र की परमगति है, जहाँ से लौटकर जीव फिर संसार के आवागमन में नहीं फँसता। जो रमारमण का नित्य निवास है।"

श्रीमन्नारायण महालक्ष्मी जी के साथ सुख से विराजमान थे कि उन्हें अपने लोक में शिवजी के पधारने की बात मालूम हो गयी। तुरन्त ही उन्होंने अपने शंख, चक्र, गदा, पद्मादि आयुध एक ओर रख दिये। मूँज की मौंजी बाँधकर रुद्राक्ष की माला पहिनकर ढाक का दंड लेकर, कृष्ण मृग की मृग छाला ओढ़कर, हाथ में सजल कमडलु तथा ब्रह्मदंड लेकर वे तो बनावटी ब्रह्मचारी बन गये। यह ऐसा वेष है कि इस पर सभी विमुग्ध हो जाते हैं और सभी को विश्वास हो जाता है। भगवान् ने महाराज बलि को भी इसी रूप से छला था। ब्रह्मचारी के मन में अपने पराये का भेद भाव नहीं रहता है, वह स्त्रीमात्र को माता समझता है, वह किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता, दीन बनकर गुरुकुल में रहता है, भिक्षा माँगकर खाता है, किसी से कटु वचन नहीं बोलता। इन्हीं सब कारणों से सभी श्रेणी के नर-नारी उसका सम्मान करते हैं, उसे भिक्षा देते हैं, तथा उसकी बात को ध्यान पूर्वक सुनते हैं।

ब्रह्मचारी बनकर भगवान् उसी मार्ग में बैठ गये, जिधर से शिवजी दौड़े चले आ रहे थे और उनका पीछा किये हुए वृकासुर आ रहा था।

भगवान् दूर से ही शिवजी को देखकर कहा—"दंडवत बाबा जी! "शिवजी को अपनी पड रही थी। प्रसन्न रहो भैया! प्रसन्न रहो।" यह कहकर वे आगे बढ गये।

अब भगवान खडे हो गये, वृकासुर दौडा चला आ रहा था। बटु बने बनवारी विहँसकर बोले—"जय शंकर की राजन्!"

वृकासुर ने कहा—"जय शकर, जय शकर ! कहो ब्रह्मचारी, अच्छे हो ?"

भगवान् बोले—"हाँ, राजन ! अच्छे हैं आप अपनी कुशल बताइये। आप कहाँ जा रहे हैं। आप तो बडे श्रमित मालूम पडते हैं। बडी शीघ्रता कर रहे हैं तनिक बैठिये, विश्राम कीजिये जल पान कीजिये।"

वृकासुर बोला—"ब्रह्मचारी तुम्हारे सत्कार के लिये धन्यवाद। मैं एक आवश्यक कार्यवश जा रहा हूँ। मुझे शकर को पकडना है, तुम से बातें करूँगा, तो शकर आगे निकल जायँगे ?"

शिवजी ने देखा, ये ब्रह्मचारी असुर से बडे प्रेम के साथ बातें कर रहे हैं। ये तो साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं। वे कौतुकवश खडे हो गये। भगवान् ने कहा—राजन् ! आप घबराये नहीं। शकर तो समीप खडे हैं, जब तक आप मेरे समीप रहेंगे, तब तक ये आगे बढ नहीं सकते। आप तनिक बैठ जायँ आपकी चेष्टा से प्रतीत होता है, आप बहुत दूर से चलकर आ रहे हैं। बात क्या है ? शकर जी को क्यों पकडना चाहते हैं। क्यो इतना श्रम कर रहें हें ? देखिये, यह लौकिक तथा पारलौकिक सभी कार्य इस शरीर से ही होते हैं, अतः शरीर की रक्षा सब प्रकार से करनी चाहिये। शरीर द्वारा ही सब कामनायें पूर्ण होती है। आप इतने व्यग्र क्यों हो रहे हैं ?"

वृकासुर ने कहा—"ब्रह्मचारी ! तुम वेद पढो। इन बातों का सुनकर क्या करोगे ?"

भगवान् बोले—"देखिये, राजन ! संसार में सब कार्य परस्पर की सहायता से होते हैं। श्रमजीवी श्रम करके जीवनोपयोगी

वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, बुद्धिजीवी अपनी बुद्धि के द्वारा नाना अविष्कार करके श्रमजीवीयो को सुख पहुँचाते हैं। बढ़ई

हल आदि बनाता है, इसके बदले में किसान उसे अन्न देता है। सभी कामों को सब एक साथ नहीं कर सकते संसार का कार्य एक दूसरे की सहायता से, सम्मति से चलता है। यदि आप उचित समझें तो अपनी व्यग्रता की बात मुझे बतावें। यदि मेरी बुद्धि में बात बैठ जायगी, तो मैं आपको उचित सम्मति दूँगा। संसार के सभी लोग सहायकों द्वारा अपने स्वार्थ को सिद्ध कर लेते हैं।"

वृकासुर ने देखा, ब्रह्मचारी मेरे प्रति आत्मीयता प्रकट कर रहा है, हार्दिक सहानुभूति दिखा रहा है, तो उसका भी झुकाव भगवान की ओर हुआ। उसने सोचा शिवजी सम्मुख ही खड़े हैं। मैं भागते-भागते थक भी गया हूँ, ब्रह्मचारी बुद्धिमान् प्रतीत होता है। संभव है कोई सरल सुगम युक्ति बता दे। व्यग्रता और विपत्ति में कोई सहानुभूति दिखाता है, तो उसके प्रति आत्मीयता हो जाना स्वाभाविक है। अतः वह भगवान के कहने से बैठ गया उसने हाथ पैर धोकर श्रम दूर किया, शिवजी को देखता ही रहा। शिवजी लीलाधारी का लीला देखने के लिये चुपचाप खड़े थे। श्रम मिटाकर वृकासुर बोले—"देखो, ब्रह्मचारी! तुम सहृदय पुरुष जान पड़ते हो इससे मैं अपनी बात तुम्हें बताता हूँ। मैं असुर श्रेष्ठ शकुनि का पुत्र हूँ। सिद्धि के लिये मैं शीघ्र प्रसन्न होने वाले देव की आराधना करने घर से निकला। नारदजी ने मुझे शिव को आशुतोष बताया। मैंने केदारनाथ में शरीर का मांस हवन करके तप किया। मेरे माँगने पर प्रकट होकर शिवजी ने वर दिया, कि तुम जिस जिसके सिर पर हाथ रख दोगे वही मर जायगा। उसी की परीक्षा करने मैं शिवजी के सिर पर हाथ रखना चाहता हूँ कि यदि शिवजी मर गये, तो मैं इनकी स्त्री को ले लूँगा।"

यह सुनकर भगवान् खिलखिला कर हँस पड़े। भगवान् को

इस प्रकार व्यङ्गपूर्वक अट्टहास करते देखकर वृकासुर चकित हो गया, वह शंकित चित्त से वटुवेषधारी श्रीहरि से पूछने लगा—"आप इतने हँस क्यों रहे हैं ?"

भगवान् ने कहा—"तुम्हारी मूर्खता पर।"

वृकासुर ने कहा—"मैंने इसमें कौन-सी मूर्खता की ?"

भगवान ने कहा—"क्या तुम इसे सम्भव समझते हो ? क्या ऐसा हो सकता है ? क्या शंभु में ऐसा वर देने की शक्ति है ?"

असुर ने कहा— "क्यों नहीं, मुझसे तो नारदजी ने कहा है शिव में सभी शक्तियाँ हैं।"

भगवान् ने कहा—"नारदजी की तुम कुछ मत कहो, उन्हें तो इधर की उधर भिड़ाने में आनन्द आता है। दूसरों को लड़ा देते हैं, आप खेल देखते हैं। हाँ, पहिले शिव में शक्ति अवश्य थी, किन्तु जब से दक्ष का शाप हुआ है, तब से तो वे पूरे प्रेत पिशाच बन गये हैं, सब भूत प्रेतों के अधिपति हो गये हैं। हमें तो विश्वास होता नहीं कि इनके वर में ऐसी कोई सामर्थ्य है।'

वृकासुर ने कहा—"अजी, नहीं। सब कहते हैं, भगवान् भूतनाथ जगद्गुरु है, वे जो भी कह देते हैं, वही हो जाता है।"

भगवान् बोले—'तो इसमें विवाद की कौन-सी बात है। प्रत्यक्ष के लिये प्रमाण और वाद विवाद की क्या आवश्यकता ? आपके पास क्या सिर नहीं है ? आप अपने सिर पर ही हाथ रखकर परीक्षा क्यों नहीं कर लेते ? यदि शंकर का वचन असत्य निकले, तो फिर इस जगत् के ठगने वाले को यहीं किसी प्रकार मार डालो जिससे ये दूसरों के साथ ऐसा छल कपट न कर सकें। हम तुम्हारे साथ हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिस प्रकार मूर्ख जिस डाल पर बैठा रहता है, उसे ही कुल्हाड़ा से काटने लगता है, उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि डाली के कटते ही मैं भी गिर

जाऊँगा। उसी प्रकार भगवान् की माया से मोहित हुए वृकासुर को भी यह बोध नहीं रहा कि सिर पर हाथ रखने से मैं मर जाऊँगा। उसने भगवान् के कहने स वर की परीक्षार्थ अपने सिर पर ज्यो ही हाथ रखा, त्यों हीं वह तत्काल वज्र से टूटे पर्वत शिखर के समान गिर गया। उसका सिर फट गया और वह मर गया। भगवान की विचित्र और मधुमय कोमल वाणी से उसकी बुद्धि भ्रम म पड गयी थी इसलिय उस कुबुद्धि का अन्त हो गया। उसी समय आकाश स देवताओं ने पुष्पों का वृष्टि की। 'भगवान की जय हो, जय हो' इन जय जयकारा स दशा दिशायें भर गयीं। उस क्रूरमति खल असुर के मार जान पर देवता, ऋषि, पितृ और गन्धर्वगण, पुष्पा की वर्षा करने लगे सब परम हर्ष प्रकट करने लगे। इस प्रकार शंकरजी अपने ही दिये हुए वर स उन्मत्त वृकासुर के संकट से मुक्त हुए।

भगवान् ने देखा, प्रसन्नता के कारण शिवजी के ताना नेत्र खिल रहे हैं, तो वे हँसते हुए शिवजी स बोले—'दढोत महाराज कहिये कैसी रही ?"

लज्जित होकर शिवजी बोले—"अच्छा किया भगवन ! जो आपने इस दुष्ट को युक्ति से मार दिया।"

भगवान् ने कहा—"हे ! देवाधिदेव ! हे महादेव ! मैंने इस दुष्ट को क्या मार दिया, यह नीच तो अपने ही पाप से मारा गया। भला, बताइये इससे बडा पाप और क्या होगा कि जिस पत्तल में खाय उसी में छेद करे, जिनसे वर प्राप्त किया उन्हीं को भस्म करने का उद्योग। महान पुरुषा का अपराध करने वाला कौन ऐसा पुरुष होगा, जो कुशलता के साथ रह सकता हो। साधुओं के ही अपमान करने वाले का दुर्गति होती है, फिर आप जैसे साधु शिरोमणि जगद्गुरु विश्वेश्वर के अपराध करने वाले के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? वह तो उसी क्षण मर गया,

जिस क्षण उसके मन में ऐसा पाप आया।" यह सुनकर शिवजी भगवान् से प्रेम पूर्वक मिल भेंटकर कैलाश को चले गये। वृत्रासुर ने भगवान् के समीप उनके देखते देखते शरीर त्यागा। भगवान से बात करते समय भस्म हुआ, इसलिये संसार सागर से मुक्त हो गया। भस्म होने से उसका नाम भस्मासुर भी पड गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार हमारे भोले बाबा वर देने में भी अग्रणी हैं और कुपित होने पर उसका अन्त भी करा देते हैं। कम श्रम करके अधिक प्राप्त करने वाले को सुख नहीं, शान्ति नहीं जो पुरुष इस हरिहरात्मक चरित को सुनेगा, सुनायेगा वह भी संसार बन्धन से मुक्त हो जायगा। यह मैंने प्रसंगवश वृकासुर के भस्म होने की कथा कही। अब आगे आप और क्या सुनना चाहते हैं ?

शौनकजी ने कहा 'सूतजी ! आपने यह हरिहरात्मक चरित सुनाया, यह तो उत्तम ही किया किन्तु इससे यह निर्णय तो न हुआ कि तीनों देवताओं में बड़ा कौन है। आप हमें बतावें ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों में श्रेष्ठ कौन हैं ?"

यह सुनकर सूतजी कुछ संकोच में पड गये और फिर गम्भीर होकर शनैः शनैः कहने लगे—"अब महाराज ! श्रेष्ठ किसे बतावें। श्रेष्ठता और कनिष्ठता तो अपने मन के ऊपर है। पर जिसे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, दूसरे उन्हें ही निकृष्ट मानते हैं। मनुष्य के पेट में जैसा अन्न होता है वैसी ही डकार आती है। मैं तो वैष्णव हूँ और इस समय वैष्णवों की कथा सुना रहा हूँ। इसलिये मैं तो श्रीविष्णु को ही सर्वश्रेष्ठ कहूँगा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आप विष्णु भगवान को ही सर्वश्रेष्ठ कैसे बता रहे हैं। यों कह देने से ही सिद्ध थोड़े ही

होगा । तर्कपूर्वक प्रमाण दीजिये, इसे युक्तियों द्वारा सिद्ध कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ, यह विषय तर्क का नहीं । इसे वाद विवाद के रगमच पर ले आओगे, तो राग द्वेष बढेगा। त्रिदेवों का तो कुछ बनेगा बिगडेगा नहीं। आपके कहने से न कोई बडा हो जायगा, न छोटा। वे तो जैसे हैं, वसे ही रहेंगे। किन्तु मनुष्य स्वभाववश राग द्वेष के वशीभूत होकर मार काट करेंगे, लडेंगे, भिडेंगे। इसलिये वैष्णवों के लिये विष्णु श्रेष्ठ हैं शैवों के लिये शिव श्रेष्ठ हैं। यही प्रश्न एक बार ऋषि मडली में भी उठा। इस विषय में बडा वाद-विवाद हुआ। अन्त में जो निर्णय हुआ इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को ही मैं आपको सुनाये देता हूँ। इसी से आपके प्रश्न का उत्तर हो जायगा।

छप्पय

हरि सब समुझि रहस्य रूप वटु धरि मग आये।
वृकतें बोले—वीर! फिरो क्यों तुम घबराये॥
कह्यो असुर सब वृत्त बताई अपनी इच्छा।
बोले हरि निज शीश हाथ धरि करहु परीच्छा॥
सुनि खल निज सिर कर धर्यो, भयो भस्म शिव बचि गये।
ऐसो वर फिरि देहि नहि, हरि हर तें कहि हँसि गये॥

त्रिदेवों में सर्वश्रेष्ठ कौन ?

[११८६]

सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत ।
वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० १ श्लोक)

छप्पय

और सुनो इक चरित चली चरचा मुनि माहीं ।
करहिं यज्ञ ऋषि विपद् सरस्वति तट के पाहीं ॥
हरि, हर, अज के बीच कौन सुर श्रेष्ठ कहावें ।
भृगु मुनि करे नियुक्त परीक्षा लैबे जावें ॥
प्रथम गये ते अज निकट, करी न दँड प्रणाम मुनि ।
सुत अविनय लखि अति कुपित, भये न बोले ब्रह्म मुनि ॥

जो दूसरों का सम्मान करता है, वह अपने ही सम्मान को बढ़ाता है। जो अपने को ही श्रेष्ठ समझकर सबसे सम्मान पाने के लिये लालायित रहता है, वह श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। चाहने वाले का अपना दाता श्रेष्ठ है। स्वयं खा लेने वाले का

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! सरस्वती नदी के तट पर एक बार ऋषिगण एक यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञ में इसी विषय को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों में सर्वश्रेष्ठ देव कौन से हैं।

अपेक्षा खिलाने वाला श्रेष्ठ है, जो किसी को सम्मान प्रदान करता है, तो उसका मान उसमें भी अधिक बढ़ता है। दर्पण में देखकर हम अपने मुख को सजाते हैं। दर्पण जैसा निर्देश देता है वैसा हम करते हैं, इसमें दर्पण का क्या लाभ है। दर्पण को तो तभी तक प्रसन्नता है जब तक पूरा मुख सज नहीं जाता, मुख सजने पर जहाँ दर्पण रख दिया, वहाँ शोभा तो आपकी ही बढ़ी। जहाँ जहाँ भी जाओगे तुम्हारा ही सम्मान होगा। हमारे घर भगवद् भक्त साधु महात्मा आते हैं, हम उनका श्रद्धा सहित यथा शक्ति स्वागत सत्कार करते हैं। महात्माओं को स्वागत सत्कार की अपेक्षा नहीं, किन्तु उनका सम्मान करने से गौरव हमारा बढ़ेगा। सब लोग कहेंगे—अजी, उनके विषय में क्या कहना। उनके यहाँ तो सन्त महात्मा आते ही रहते हैं। सत्कृत सन्त भी प्रसग आने पर सर्वत्र कहते फिरेंगे—"सत्कार तो हमने उनके यहाँ देखा उनकी साधु सेवा में बड़ी श्रद्धा है।" इसी प्रकार किसी का मन्दिर है, उसमें भगवान् की मूर्ति स्थापित है। मूर्ति को पूजा की अपेक्षा नहीं। चाहे कोई एक फूल चढ़ा दो या षोड-शोपचारों से महती पूजा करो। किन्तु हम उनकी जितनी ही वैभवशालिनी पूजा करेंगे, उतना ही पूजा करने वाले का मान बढ़ेगा। ऐसी सरल सीधी बातें हैं, कि सब ही इन्हें समझ सकते हैं, किन्तु लोगों के मन में ऐसा मिथ्याभिमान बढ़ गया है, कि दूसरों का सम्मान करना भी नहीं चाहते हैं। अपने को ही पुजाना चाहते हैं। अपने को ही उच्चासन पर आसीन करके दूसरों को तुच्छ सिद्ध करना चाहते हैं, वास्तव में सम्मानित तो वही है जो सबका सम्मान करे। अपना कोई अपमान भी करे उसे भी सम्मान की दृष्टि से देखे। श्रेष्ठता-की यही सर्वोत्तम पहिचान है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अच्छा तो सुनिये, मैं आपको

और एक कथा सुनाता हूँ। बहुत पहिले की बात है, सरस्वती नदी के तट पर सभी ऋषि महर्षियों ने मिलकर एक बड़ा भारी यज्ञ किया। यज्ञ के अवसान में ऋषि महर्षि बैठकर किसी भी एक विषय को लेकर वाद विवाद किया करते हैं। क्योंकि 'वादे वादे जायते तत्वबोधः।' इस प्रकार प्रेम पूर्वक पूछने से परस्पर में शङ्का समाधान करने से बहुत-सी बातों का निर्णय हो जाता है। एक दिन मुनिमंडली में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि 'तीनों देवों में श्रेष्ठ देव कौन हैं।'

इस प्रश्न पर बहुत देर तक वाद विवाद होता रहा। कोई ब्रह्माजी को सर्वश्रेष्ठ बताते, कोई शिवजी को और कोई विष्णु भगवान् को। जब बहुत देर तक शास्त्रार्थ होने पर भी कोई निर्णय न हो सका, तब एक मुनि बोले—"इस प्रश्न का निर्णय ऐसे न होगा, इसके लिये किसी को नियुक्त कर दिया जाय। वह तीनों देवों के समीप स्वयं जाकर अपने अनुभव से उनकी गति विधि का अवलोकन करे। देखकर वह अपनी विवरण सहित सम्मति मुनिमंडली में प्रस्तुत करे। उस पर मुनिमंडल विचार करके तब अपना निर्णय दे।"

यह बात सबने एक स्वर से स्वीकार करली। अब यह प्रश्न कि भेजा किसे जाय। इस पर एक मुनि बोले—"ये महर्षि भृगु बड़े ही बुद्धिमान् हैं। ब्रह्माजी के पुत्र हैं, पक्षपात रहित हैं, ये बड़े तेजस्वी हैं, इन्होंने सबसे अधिक तेजस्वी अग्नि को भी शाप देकर सर्वभक्षी बना दिया है। हमारी सम्मति में तो ये ही परीक्षक होने के सर्वोत्तम पात्र हैं।" इस प्रस्ताव को भी सबने सर्व सम्मति से स्वीकृत किया। अब महामुनि भृगु को मुनिमण्डली से आदेश मिला—"वे तीनों देवों के समीप जाकर जैसे उचित समझें वैसे परीक्षा करें और अन्त में जिस परिणाम पर पहुँचें उसकी सूचना मुनि मंडल को दें।"

मुनि मण्डली की आज्ञा शिरोधार्य करके भगवान् भृगु वहाँ से चल दिये। सर्वप्रथम वे अपने पिता ब्रह्माजी के यहाँ ब्रह्मलोक में पहुँचे। उस समय ब्रह्माजी की सभा खचाखच भर रही थी। देवता, ऋषि, पितर, सनकादि, बड़े बड़े मुनीश्वर, तीर्थ सरितायें, अप्सरायें, यक्ष, किन्नर, राक्षस तथा अन्यान्य समस्त जीवों के प्रतिनिधि सभा में बैठे हुए लोकपितामह ब्रह्माजी की उपासना कर रहे थे। सभा में जो भी आता पहिले ब्रह्माजी का साष्टाग प्रणाम करता फिर हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करता, ब्रह्माजी का संकेत पाने पर वह एक नीचे आसन पर बैठ जाता।

उसी समय महर्षि भृगु भी पहुँचे। आज वे ब्रह्मपुत्र के रूप में तो आये नहीं थे। आज तो वे मुनि मंडली के प्रतिनिधि थे। वे तो परीक्षक के रूप में आये थे। अतः उन्होंने न ब्रह्माजी को प्रणाम किया, न स्तुति की। यहाँ तक कि हाथ भी नहीं जोड़े। चुपचाप जाकर उनके बराबर बैठ गये।

अपने पुत्र भृगु की ऐसी अविनय देखकर ब्रह्माजी मन ही मन अत्यंत कुपित हुए। हम एकान्त में घर में बैठे होते, तो कोई बात नहीं थी, प्रणाम करता या नहीं, किन्तु भरी सभा में अशिष्टता करना यह हमारा घोर अपमान है। दूसरो पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। दूसरे यही सोचेंगे—"जब इनके सगे पुत्र ही इनका आदर नहीं करते, तो हम क्यों करें।" यह छोटा बच्चा भी नहीं है, जो सदाचार को जानता न हो। पहिले तो जब भी आता था साष्टाग प्रणाम करता था, स्तुति करता था। आज इसे क्या हो गया है। इस प्रकार के विचार आने पर ब्रह्माजी अपने तेज से प्रज्वलित होते हुए मन ही मन महर्षि भृगु पर अत्यन्त कुपित हुए।

ब्रह्माजी के मन में आया, इसे डाटें-डपटें। फिर सोचा—"किसी ने देखा होगा, किसी ने न देखा होगा। अब इस बात

को छेड़ देंगे, तो बात बढ़ जायगी, जिसने ध्यान न भी दिया होगा, उसके ध्यान में बात चढ़ जायगी। इस प्रश्न को उठाओ ही मत। दूसरा कोई होता तो उसे डाँटते भी। केसा भी सही, है तो अपना लड़का ही। लड़के गोदी में मल मूत्र कर देते हैं, उन पर माता-पिता कुपित नहीं होते। यद्यपि यह छोटा नहीं हैं, फिर भी है तो अपना पुत्र ही।" इस प्रकार अनेक युक्तियों से मन में आये क्रोध को ब्रह्माजी ने उसी प्रकार शान्त कर दिया, जिस प्रकार उफनते हुए दूध को जल के छींटे शान्त कर देते हैं। जल की उत्पत्ति अग्नि से है, इसलिये अग्नि जल पर अपना तेज नहीं दिखाते, जल के सम्मुख शान्त हो जाते है। उसी प्रकार ब्रह्माजी ने मन में उत्पन्न हुए क्रोध को मन में ही शान्त कर लिया, उसे प्रकट न होने दिया। भृगुजी से कुछ भी नहीं बोले। महर्षि अपने पिता के मनोगत भावों को समझ गये, इसलिये वे भी चुपचाप उठकर शिवजी की परीक्षा लेने कैलाश की ओर चले गये।

शिवजी ने दूर से ही देखा महर्षि भृगु आ रहे है। अपने भाई भृगु को देखकर भूतनाथ भवानीशंकर को बड़ा हर्ष हुआ। वे आनन्द में विह्वल होकर अपने भाई का आलिङ्गन करने उठकर आगे आये। ज्यों ही दोनों बाहुओं को पसारकर वे भृगुजी का प्रेमालिंगन करने को उद्यत हुए, त्यों ही पीछे हटते हुए भृगुजी बोले—"दूर रहो, दूर रहो! मुझे छूना मत। तुम छूने योग्य नहीं। तुम्हारा आचार विचार बड़ा घृणित है। जिस मृतक पुरुष को छूना पाप माना गया है, भूल से भी हड्डी छू जाय, तो लोग सचेल स्नान करते हैं, उन्हीं मृतकों की हड्डियों के तुम आभूषण धारण करते हो, मुण्डों की माला पहिनते हो, चिता की भस्म को शरीर पर लगाते हो, श्मशान में रहते हो, भूत, प्रेत, पिशाचों के साथ नाचते हो। तुम्हारा कोई आचार नहीं, विचार

नहीं, तुम कुपथगामी हो। इसलिये मैं तुमसे मिलना नहीं चाहता।"

जिन शिवजी के दर्शनों के लिये योगिजन लाखों वर्ष तपस्या करते हैं, उन्हीं शिवजी के स्वयं आलिंगन करने को दौड़ने पर एक मुनि उनसे मिलना न चाहे, उन्हें खरी-खोटी सुनावे, यह शिवजी का घोर अपमान था। इस व्यवहार से क्रोध आना स्वाभाविक ही था। फिर तमोगुण प्रधान रुद्र के विषय में तो कहना ही क्या। शिवजी की आँखें क्रोध के कारण लाल-लाल हो गयीं। वे तीक्ष्ण दृष्टि से भृगुजी की ओर देखकर अपना त्रिशूल उठाकर उन्हें मारने के लिये दौड़े।

समीप में बैठी हुई भगवती भवानी यह सब देख रही थीं। उन्होंने देखा—बात बहुत बढ़ गयी है। अब तो मार-काट की नौबत आ गयी। शिवजी को त्रिशूल लेकर आगे बढ़ते देखकर पार्वतीजी ने दौड़कर शिवजी के पैर पकड़ लिये। वे चरणों में लिपटकर करुण स्वर में बोलीं—"प्रभो! आप यह क्या कर रहे हैं। भृगु आपके छोटे भाई हैं। इन्होंने कुछ अनुचित भी कह दिया हो, तो उसे आप क्षमा करें। छोटे तो छोटे हैं ही। बड़ों को उनके अपराधों को क्षमा कर देना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! शिवा के समझाने पर सदाशिव शान्त हुए। उन्होंने भृगुजी के मारने के विचार को छोड़ दिया। भृगुजी को तो इतना ही देखना था, अतः अब वे तुरन्त वैकुण्ठ लोक की ओर चल दिये। अब जिस प्रकार वे विष्णु भगवान् की परीक्षा करेंगे उस प्रसंग का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

भृगु शिव सन पुनि गये शम्भु दौरे मिलिवे हित।
कह्यो—अघोरी आपु न भेंटूं है यह अनुचित॥
मारन दौरे रुद्र सती पग परि लौटाये।
क्रोधी शिवकूँ समुझि फेरि मुनि हरिपुर आये॥
सिर धरि लक्ष्मी अङ्क महँ, सोवत हरि मुनि जाय कें।
उर मह मारी लात कसि, उठे विष्णु घबराय कें॥

सत्त्वमय श्रीविष्णु ही सर्वश्रेष्ठ हैं

[११६०]

त्रिविधाकृतयस्तस्य गक्षसा असुराः सुराः ।
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० १६ श्लोक)

छप्पय

लात लगत ही उठे चरन मुनि के सुहलावें।
पुनि पुनि करें प्रनाम दीन ह्वै वचन सुनावें॥
द्विजवर ! मोतैं भूल भई स्वागत नहिँ कीन्हो।
सेवा कछु नहिँ बनी कष्ट ऊपर तैं दीन्हो॥
तव पद हैं अतिशय मृदुल, हिय कठोर मम बज्र सम।
पहुँची पग पीडा प्रभो, भये दूरि मम दुरित भ्रम॥

महत् पुरुष अपमान को भी स्वीकार कर लेते हैं, तो वह मान हो जाता है। दूषण को भी स्वीकार कर लेते हैं, तो वह भूषण हो जाता है। महादेवजी ने हलाहल विष को स्वीकार कर लिया उसे कंठ में धारण कर लिया। विष ने तो वहाँ भी

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान की तीन मूर्तियाँ हैं राक्षस, असुर, और देवगण। ये तीनों ही उन्हीं की त्रिगुणमयी माया से रचित हैं। इन तीनों में सत्त्वमयी देवमूर्ति ही परम पुरुषार्थ रूप उनकी प्राप्ति का साधन है।"

अपना प्रभाव दिखाया। कर्पूर के समान गौर वर्ण के शिवजी का कंठ नील वर्ण का हो गया। इससे उनकी शोभा घटने की अपेक्षा बढ़ी ही। वे संसार में नीलकण्ठ के नाम से प्रसिद्ध हुए। दक्ष ने नारदजी को एक स्थान में न रहने का शाप दिया, उस शाप को उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया, वह शाप ही वरदान हो गया। अब नारदजी निरन्तर घूम-घूमकर जीवों का कल्याण करते रहते हैं, उन्हें भगवान के सम्मुख करते रहते हैं। वस्तुओं में गुण दोष नहीं, वे पात्र को पाकर अच्छी-बुरी बन जाती हैं। मुख्य तो पात्रता है। सर्वश्रेष्ठ पात्र श्रीहरि ही हैं। हरि को पाकर सभी वस्तुएँ शुभ हो जाती हैं, सुन्दर बन जाती हैं। हर के सिर पर शोभित होने से टेढ़ा चन्द्रमा भी वन्दनीय बन गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मुनिमंडली द्वारा परीक्षा के लिये नियुक्त महर्षि भृगुजी, ब्रह्माजी तथा शंकरजी की परीक्षा लेकर उस वैकुण्ठ धाम को गये जहाँ अपनी प्रिया के साथ भगवान् विष्णु निवास करते हैं।"

भगवान् उस समय विश्राम कर रहे थे। अपनी प्राण-प्रिया कमला के कोमल अंक में अपना सिर रखकर सो रहे थे। सो क्या रहे थे, नेत्र बन्द करके प्रेम का अनुभव कर रहे थे। भगवती कमला अपलक भाव से उनके विकसित मुखारविन्द के मकरन्द का पान कर रही थी। भगवान् के सौंदर्य-माधुर्य सागर में वे ऐसी मग्न हो रही थीं कि उन्हें संसार की तनिक भी सुधि-बुधि नहीं थी। भृगुजी चुपके-चुपके चले गये। द्वारपालों ने रोका भी नहीं जय-विजय से पतन के द्वारपाल सजग हो गये थे, इन ब्राह्मणों से वे बहुत डरते थे। भृगुजी ने पूछा भी नहीं, भगवान् से भेंट होगी या नहीं। वे धर्राये हुए भीतर चले गये। लक्ष्मी और नारायण दोनों प्रेम की समाधि में निमग्न थे। ब्राह्मण ने न आगा सोचा न पीछा। कसकर एक लात भगवान् के वक्षःस्थल में जमा दी।

लात लगते ही लक्ष्मीजी चौंक पड़ीं। तुरन्त भगवान् भी उठकर बैठ गये। सम्मुख जटा नखेरे मृगचर्म को हिलाते उन्होंने महर्षि

भृगु को देखा। भृगु मुनि लात मारकर पर को पृथ्वी भर भी न रख सके थे, तभी तक भगवान् ने उनके बिवाई फटे, खुरदरे, सूखे

धूलि से सने पैर को अपने दोनों कर कमलों की अञ्जलि में दबा लिया। लक्ष्मीजी हड़बड़ाकर उठकर खड़ी हो गयीं। भगवान् भी हाथों से पैर को पकड़े झुककर खड़े हो गये। मुनि को अपना सुन्दर शैया पर बिठाकर अपने नीचे से उनके दोनों चरण में अपने मस्तक को रख दिया। फिर बड़ी ही मधुर वाणी में सज्जनों के एकमात्र गति श्रीहरि मुनि से कहने लगे—"मुनिवर! आपका स्वागत है। आपने बड़ी कृपा की, जो हमें दर्शन दिया। विराजिये विराजिये। मेरी शैया को कृतार्थ कीजिये। मैं आप से क्षमा याचना करता हूँ, मुझे आपके पधारने की बात पहिले से मालूम नहीं थी। इसीलिये मुझसे ऐसी अविनय हो गयी। मैं धृष्टता वश शैया पर लेटा ही रहा। न जाने कब से आप खड़े होंगे। फिर मेरे कारण अपको कष्ट उठाना पड़ा। आपके चरण में चोट लग गयी होगी, क्योंकि मैं तो वज्र हृदय हूँ। मेरा हृदय बड़ा ही कठोर है, आपके चरण कमल से भी अधिक कोमल हैं, हाय! उनमें पीड़ा हो गयी होगी।" ऐसा कहकर भगवान् बार-बार अपने करकमलों से भृगुजी के चरण को सुहलाने लगे।

भृगुजी चुपचाप बैठे थे, भगवान् पैरों को दबाते हुए विनीत भाव कहने लगे "ब्रह्मन्! जितने तीर्थ हैं, वे पापियों के संघर्ष से पापमय हो जाते हैं, वे पापमय तीर्थ आपके चरण पड़ने से पुनः पावन बन जाते हैं। तीर्थों के तीर्थत्व को स्थायित्व प्रदान करने वाला आपका पादोदक है। आपके चरण इस वैकुण्ठ धाम में पड़े, इस लोक का सौभाग्य है, मुझे अपने चरणों को धोने की अनुमति प्रदान करें, जिस चरणामृत से मैं स्वयं और मुझमें स्थित समस्त लोकपाल पावन बन सकें और मेरा यह पावनलोक परमपावन हो सके। अहा! भगवन्! आपने तो मुझ पर अहैतुकी कृपा की, मेरी प्रार्थना के बिना ही आपने अपने

चरण के स्पर्श से मुझे कृतार्थ कर दिया। आपके पादपद्मों की पुनीत पराग के पडने से मेरे पुराने पाप सभी कट गये। ये लक्ष्मीजी बडी चचला हैं, यद्यपि ये मेरी निरन्तर सेवा करती रहती हैं, फिर भी मुझे सदा सन्देह बना ही रहता था कि ऐसा न हो ये कहा चली जायँ, अब मैं निश्चित हो गया। अब ये मेरे हृदय को छोड़कर जा ही कहाँ सकती है, आपके चरण का चिन्ह तो मेरे वक्षःस्थल पर सदा के लिये अंकित हो गया। इस कारण अब तो मैं इनका एक मात्र आश्रय स्थान हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सर्वान्तर्यामी जगदाधार जगत् पूज्य भगवान् जगन्नाथ के मुख से ऐसे विनीत वचन सुनकर मुनिवर भृगुजी अत्यन्त आनन्दित हुए, उनके रोम-रोम खिल गये। आत्मतृप्त और परम सन्तुष्ट हुए। कण्ठ के अवरुद्ध होने से वे एक शब्द भी न बोल सके। मौन धारण करके निरन्तर प्रेमाश्रु बहाकर प्रभु के पादपद्मों को पखारते रहे। भक्ति के उद्रेक से उनके अंग अंग में सभी सात्त्विक भाव स्पष्ट प्रतीत होने लगे। उन्होंने भगवान् के वचनों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप भगवान को प्रणाम करके सरस्वती तट की ओर चल दिये।

लक्ष्मीजी तो ब्राह्मणों से पहिले से ही खीजी हुई थी। उनकी बहिन दरिद्रा का विवाह ब्राह्मण से हुआ था। उसने उसे छोड दिया। एक दूसरा ब्राह्मण आया, उसने अक मे स्थित मेरे स्वामी के लात मारी और मारी उसी स्थान पर जिस पर निरन्तर मेरा निवास है। उस चरण का चिन्ह ऐसा वज्र बन गया कि ओषधि उपचार करने पर भी वह मिटता नहीं। लक्ष्मीजी जब उसे देखती हैं, तभी कुढ जाती हैं, इसीलिये ब्राह्मण धनिक नहीं होते। कोई धनिक होगा भी तो वैश्य वृत्ति से धनिक होगा। जन्मना ब्राह्मण होने पर भी वह कर्मणा वैश्य ही माना जायगा।

इधर तीना देवों की परीक्षा लेकर महर्षि भृगु पुन सरस्वती के तट पर यज्ञ भूमि मे पहुँचे। दूर से ही महर्षि भृगु को आत देखकर सबके सब ऋषि मुनि खडे हो गये अत्यन्त उत्सुकता के साथ उनका स्वागत करते हुए कहने लगे—"मुनिवर! आपका स्वागत है, आइये, पधारिये, हमारी पूजा ग्रहण कीजिये और त्रिदेवा का आपने क्या परीक्षा की और अन्त में किस परिणाम पर पहुँचे। कृपा करके सब वृत्तान्त को विस्तार पूर्वक सुनावें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनिवर! सब महर्षियों के पूछने पर भृगुजी ने आदि से लकर अन्त तक जैसे जैसे देवो के पास गये, वहाँ जाकर जो जो हुआ वह सब अक्षर अक्षर विस्तार के साथ सुनाया। सब समाचार सुनकर समस्त मुनियों को भगवान् के ऐसे नम्र व्यवहार से अत्यन्त विस्मय हुआ। उनका सब सन्देह दूर हो गया। सबने एक स्वर से निर्णय दे दिया कि भगवान् विष्णु ही त्रिदेवो म सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी उपासना करके चाहे धर्म लाभ करो अथवा आत्मज्ञान प्राप्त करो। वे सभी कुछ देने म समर्थ है। ज्ञान वराग्य, अष्टा सिद्धियाँ नवा निधियाँ तथा चित्त की मलिनता को दूर करने वाला सुयश भी प्राप्त होता है।

भगवान् ब्रह्मण्य देव हैं, भक्तवत्सल हैं, शान्त, दान्त, समचित्त अकिंचन, सर्वभूतो के हित म रत रहने वाले तथा सबको अभय प्रदान करने वाले साधुजन इन्हीं विष्णु भगवान् का निरन्तर ध्यान करते रहते हैं। ये ही उनकी एकमात्र परम गति हैं भगवान् सत्त्व मूर्ति हैं। उनके इष्टदेव विप्रगण ही हैं। निपुण, बुद्धि, शान्त समुचित्त तथा निष्काम मुनिगण जो निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं, उन भगवान् विष्णु की ही वैष्णवों को आराधना करनी चाहिये।"

तीनों देव त्रिगुणों के प्रतीक हैं। तीनो देवो की तीन त्रिगुणमयी मूर्तियाँ हैं। तमोगुण की मूर्ति राक्षस हैं, रजोगुण की मूर्ति असुर

गए हैं और देवता उनकी सत्त्वमयी मूर्ति हैं। इसीलिये विष्णु भगवान् सुर श्रेष्ठ कहलाते हैं। सात्त्विक लोगों को सत्त्वमयी भगवान विष्णु की ही विशेषरूप से पूजा करनी चाहिये। क्योंकि भगवान् का सत्त्वमयी दवमूर्ति ही परम पुरुषार्थ रूप प्रभु का प्राप्ति का प्रधान साधन है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सरस्वती तट के सर्वज्ञ ज्ञानी मुनियों को तो सन्देह होना ही क्या था, उन्होंने तो ससारी पुरुषों के सशय को दूर करने के निमित्त ऐसा विवाद किया और ऐसा निर्णय किया। वे सबके सब विष्णु की उपासना द्वारा परमपद को प्राप्त हुए। महर्षियो! मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित के सम्मुख यह विष्णु भक्ति वर्धक कथा कही थी। जो इस प्रकार की विष्णु महिमा सूचक कथामृत को अपने श्रवण पुटो से निरतर पान करते रहेंगे, वे ससार के आवागमन से छूट जायँगे। तत्त्व एक ही है। नाम रूप गुणों के कारण भेद सा प्रतीत होता है। गुणातीत उन हरि को महाविष्णु कहो, परमशिव कहो, महाशक्ति कहो, सब एक ही बात है। मुनियो! इस प्रकार इस विष्णु भक्ति वर्धक चरित्र को कहकर अब मैं भगवान् के कभी न समाप्त होने वाले अनन्त चरित्र की समाप्ति करता हूँ।"

'समाप्त' का नाम सुनते ही समस्त मुनिगण हडवडा उठे और बोले—"अजी, सूतजी! यह क्या कह रहे हो? अभी से भगवान के चरित्र को समाप्त करते हो। हमारी तो तृप्ति हुई नहीं। हम तो समझ रहे थे, अभी आपने कथा आरम्भ ही की है और अब आप समाप्ति पर ही आ गये।

सूतजी बोले— "क्या करूँ महाराज! दो सहस्र जिह्वा वाले शेषजी जब सम्पूर्ण भगवत् चरित को नहीं कह सकते, तो मेरी तो शक्ति ही क्या है। अब तो मुझे भगवान् के लीला चरित की

समाप्ति करनी ही है मरन लीला चरित तो समाप्त प्रायः है। महाराज परीक्षित को भी छः दिन हो गये।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! सातवें दिन भी तो कुछ प्रश्न किया होगा, उसका भी भगवान ने कुछ उत्तर दिया होगा। उसे ही हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"महाराज! सातवें दिन तो ज्ञान सम्बन्धी प्रश्न थे। भक्ति, ज्ञान वैराग्य तीनों का समन्वय है। बुद्धि का व्यायाम है।"

शौनकजी बोले—"सूतजी! उसे भी हमें सुनावें। बिना ज्ञान वैराग्य के भक्ति स्थाई होती ही नहीं। ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के पुत्र हैं। पुत्र को प्यार करने वाले से माता जितनी प्रसन्न होती है उतनी अपने से प्यार करने वाले से प्रसन्न नहीं होती। ज्ञान वैराग्य की चर्चा हम बड़े प्रेम से सुनेंगे।

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! पहिले मैं भगवान् के सरस लीला चरित का उपसहार कर लूँ। उनके निज लोक पधारने के सकेत को दे दूँ, तब ज्ञान वैराग्य सम्बन्धी कथायें सुनाऊँगा। धर्मराज युधिष्ठिर को राजा बनाकर तीन अश्वमेध यज्ञ कराकर भगवान् द्वारकापुरी को चले गये। बहुत दिनों तक धर्मराज राज्य करते रहे, किन्तु भगवान् के बिना उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। जब बहुत दिनों तक भगवान् का कोई समाचार न मिला, तो धर्मराज ने अर्जुन को द्वारिका भेजा। अर्जुन भी भगवान् के दर्शन को अत्यन्त लालायित थे, वे तुरन्त कुछ सैनिक सेवकों के साथ द्वारका पहुँच गये और भगवान् के दर्शन करके परम प्रमुदित हुए। भगवान् की प्रेम डोरी से बँधकर कुछ काल द्वारकापुरी में रह गये। उसी बीच में एक ऐसी घटना घटित हो गयी, जिससे अर्जुन को तथा उद्धवादि भगवान् के अंतरङ्ग भक्तों

को यह विश्वास हो गया कि भगवान् शीघ्र ही लीला संवरण करना चाहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह कौन-सी घटना घटित हुयी, कृपा करके उसे हमें सुनावें।

सूतजी बोले —"अच्छी बात है, महाराज! अब मैं उसी घटना को सुनाता हूँ, आप हृदय थामकर इस कथा को सुनें।

छप्पय

हरिकी सुनिकें विनय भये भृगु अतिशय लज्जित।
प्रेम न हिये समात कण्ठ गद्‌गद अति विस्मित॥
आइ सत्र महँ सकल वृत्त विप्रनि सन भाख्यो।
विष्णु सबनि तैं बड़े सबनि यह निश्चय राख्यो।
हरि लीला संवरण को, भास होहि जामें यथा।
कहूँ विप्र अस पार्थ की, अति अद्‌भुत अब सो कथा॥

—:—

भगवान् की लीला संवरण की सूचना

[११६१]

एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः।
जातमात्रो भुव स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८९ अ० २२ श्लो०)

छप्पय

रहें द्वारका पार्थ कृष्ण इक चरित दिखायो।
मृतक पुत्र लै विप्र द्वार राजा के आयो॥
शपै यादवनि कहै मरें क्यों मेरे बालक।
हैं सब यादव पतित अधरमी कुलके घालक॥
एक एक करि नौ मरे, पुनि पुनि रोवत आईकें।
अन्तिम द्विज सुत मृतक लखि, अरजुन कहें रिस्याइकें॥

ससार में न कोई वली है न निर्वल। ये कालरूप कृष्ण जिसे वला वना देते हैं, वह वली वन जाता है। मैंने ऐसा किया था, अव भी मैं ऐसा कर सकता हूँ, यह मिथ्याभिमान है।

---

* श्रीशुकदेवजी कहते है—राजन ! सुनते हैं एक बार द्वारकापुरी में किसी ब्राह्मण की पत्नी का पुत्र पैदा होते ही पृथ्वी का स्पर्श करते तुरन्त ही मर गया ?

इसी मिथ्याभिमान के वशीभूत होकर मनुष्यों को अपमान सहना पड़ता है तब उसे भगवान् का स्मरण होता है। तब वह समझता है, मैं कुछ नहीं, कर्ता धर्ता कोई और ही हैं। जहाँ ऐसा ज्ञान हुआ, जहाँ सर्वात्म भाव से उस सर्व शक्तिमान की शरण में गया, तहाँ बेड़ा पार हो गया फिर कुछ करने को अवशेष नहीं रहता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् जब महाभारत युद्ध करा चुके, धर्मराज युधिष्ठिर को सम्राट् बना चुके, भूमि का भार उतार चुके और दुष्टों का संहार करा चुके तब उन्होंने स्वलोक में पधारने का विचार किया। धर्मराज हस्तिनापुर में राज्य कर रहे थे, भगवान् द्वारावती में निवास कर रहे थे, उसी समय एक विचित्र घटना घटी। किसी ब्राह्मण की पत्नी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र का ज्यों ही पृथ्वी से स्पर्श हुआ कि वह प्राणहीन होकर परलोक सिधार गया। ब्राह्मण ने सोचा—"मैं किसी का परिग्रह नहीं लेता, असत्य भाषण नहीं करता, ब्रह्मचर्य से रहता हूँ, फिर मुझे पुत्र शोक क्यों हुआ शोक होना तो पाप का परिणाम है, मैं विशुद्ध हूँ, फिर मेरे अल्पायु सन्तति कैसे हुई।" इस प्रकार सोचते-सोचते उसकी बुद्धि में यह बात आयी, अवश्य ही यह राजा के पाप का फल है। जिस राष्ट्र में जैसे शासक होंगे वैसे ही उसके कर्मचारी हो जायेंगे। राजा के पाप का फल प्रजा को भोगना पड़ता है। इसी प्रकार प्रजा का पाप पुण्य भी राजा को मिलता है। मेरा पुत्र अवश्य ही राजा के पाप से मरा है।" ऐसा निश्चय करके वह मृतक पुत्र के शव को लेकर महाराज उग्रसेन के द्वार पर रखकर वह चिल्ला चिल्लाकर कहने लगा—"ये जितने यादव हैं, सब नीच हो गये हैं, इनकी वृत्ति हिंसा करने में लग गयी है। ये मद्यक सब अपेय वस्तु का पान करते हैं अजितेन्द्रिय हैं। ऐसा ही इनका राजा उग्रसेन हो गया है। यह

दुष्ट बुद्धि है, ब्राह्मणों का द्रोही है, कृपण है विषय लोलुप है। यह क्षत्रियों में अधम है, निन्दित है इसी दुर्बुद्धि के कर्म दोष से मेरा सद्यःजात बालक मर गया है। जिस प्रजा को ऐसा अजितेन्द्रिय नीच राजा मिलता है, उसे दुःख दारिद्र और नाना प्रकार के क्लेश उठाने ही पड़ते हैं।"

ब्राह्मण की ऐसी बातें सुनकर वहाँ बहुत से लोग जुट आये। प्रद्युम्न, साम्ब, अनिरुद्ध तथा अन्यान्य यादव वीरों को ये बातें बहुत बुरी लगीं। वे ब्राह्मण को डॉटना फटकारना चाहते थे, किन्तु भगवान् ने सबको रोककर कहा— "ब्राह्मण निस्पृह होते हैं, वे जन्म से सभी वर्णों के गुरु होते हैं। वे जो भी कहेंगे सबके कल्याण के लिये कहेंगे। ब्राह्मण अदण्ड्य है, यदि वह क्रुद्ध भी हो, गाली भी देता हो, तो भी उसका कभी अपमान नहीं करना चाहिये।" भगवान् के ऐसे वचन सुनकर सबके सब चुप हो गये ब्राह्मण उस मृतक बालक को राजद्वार पर डालकर चला गया। भगवान् की आज्ञा से उस मृतक द्विजकुमार का संस्कार करा दिया गया।

एक वर्ष पश्चात् फिर उसके पुत्र हुआ। फिर वह उस मृतक को राजा के द्वार पर डालकर ऐसी ही खरी खोटी बातें सुनाने लगा। अबके उससे किसी ने कुछ नहीं कहा। इस प्रकार उसके आठ बच्चे हुए, आठों जन्मते ही मर गये वह आठों को ही राजद्वार पर डालकर उन्हीं बातों को दुहराता गया। अब तो सबको सुनने का अभ्यास हो गया था, इसलिये अब कोई उसकी बात की ओर ध्यान ही नहीं देता था।

सयोग की बात कि जिस दिन उसका नववाँ पुत्र हुआ और मर गया, नियमानुसार वह मृतक पुत्र को राजद्वार पर रखकर सबको गालियाँ देने लगा तब सभा में भगवान् के साथ अर्जुन भी बैठे थे। वे कल ही हस्तिनापुर से आये थे। उन्होंने जब ब्राह्मण

को इतनी कडी कडी बातें सुनी तो उनका रक्त खोलने लगा। वे भगवान् से बोले—"यदुनन्दन! यह कौन है? यादवों को और महाराज उग्रसेन को यह इतनी खरी खोटी बाते क्यों सुना रहा है, इसकी वाणी मे अत्यन्त आतुरता है, यह दीन हृदय से विलाप करता हुआ राजा को कोस रहा है। इसका क्या कारण है?"

भगवान् ने कहा—"कोई दुखी ब्राह्मण है, इसका बच्चा मर गया है। दुःख मे आदमी का विवेक रहता नहीं इसीलिये यह सबको खरी खोटी सुना रहा है।"

अर्जुन ने गर्व के साथ कहा—"मेरे गाडीवधनुष के रहते कोई इस प्रकार दुखी कैसे रह सकता है। दुखियों के दुःख को दूर करने का ही तो मेरा प्रण है। मेरे रहते हुए कोई इस प्रकार कातर वाणी म विलाप करे, तो मेरे क्षत्रियपने को धिक्कार है।" यह कहते कहते आवेश में भरे अर्जुन बाहर चले गये और उस ब्राह्मण के समीप आये। ब्राह्मण उग्रसेन को तथा मुख्य मुख्य यादवों को गिन गिनकर गालियाँ दे रहा था, उसी समय अर्जुन ने आकर कहा—"विप्रवर! क्या बात है? आप क्या राजा को गालियाँ दे रहे हैं।"

ब्राह्मण ने रोष के स्वर में कहा—"गाली न दूँ, तो फिर क्या करूँ, मेरे नौ नौ बालक जन्म लेते ही मर गये, मैं आकर चिल्लाता हूँ, कोई मेरी पुकार सुनता नहीं। मैंने कोई पाप नहीं किया, यह सब राजा के पाप का ही फल है।"

रोष में भरकर अर्जुन ने कहा—"विप्रवर! प्रतीत होता है इस द्वारकापुरी मे कोई धनुर्धर वीर क्षत्रिय नहीं है। अरे, आपके नौ बालक मर गये और कोई उनकी रक्षा न कर सका। ऐसा अर्सिा का व्यवहार तो यज्ञ मे दीक्षित विप्रगण करते ही हैं। क्या

यहाँ सबके सब यज्ञ करने वाले विप्र ही बसते हैं, कोई प्रजा के दुःख को दूर करने वाला क्षत्रिय यहाँ नहीं है ?"

ब्राह्मण ने कहा—"ये बातें तुम मुझसे क्यों पूछते हो, यादवों से पूछो, उग्रसेन से पूछो।"

रोष में भरकर अर्जुन ने कहा—"क्या पूछें महाराज! सब बहरे हों तो पूछें। आप तो चौराहे पर खड़े डंके की कह रहे हैं। सब के सब कानों में तैल डाले उनमें रुई का फोहा ठूँसे चुपचाप बैठे सुन रहे हैं, मानों आप अरण्य में प्रलाप कर रहे हों। उन क्षत्रियों को राज्य करने का कोई अधिकार नहीं जो ब्राह्मणों की, प्रजा की रक्षा न कर सकें उन्हें दुःख से न बचा सकें। जिनके राज्य में ब्राह्मण धन के बिना दुखी हों, जिनकी स्त्रियों की, बच्चों की रक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो, वह राजा राजा कहलाने योग्य नहीं है। वह क्षत्रिय न होकर क्षत्रिय वेष-धारी नट है। जो केवल नाटक करने को क्षत्रिय बन जाता है, आजीविका के लिये वेष बना लेता है। भगवन! आप चिन्ता न करें। अब तक जो हो गयी सो हो गयी, पिछली बातों को आप भूल जायँ। मैं आपके पुत्रों की रक्षा करूँगा, मैं आप दोनों पति-पत्नी के दुःख को हरूँगा। काल से लड़ूँगा।"

ब्राह्मण ने सूखी हँसी हँसकर कहा—"अजी, राजन्! मेरे नौ-नौ पुत्र तो मर चुके आज तक तो किसी ने रक्षा की नहीं। आप क्या करेंगे ?"

अर्जुन ने रोष में भरकर कहा—"विप्रवर, मैं आपसे निवेदन तो कर रहा हूँ पिछली बातों को आप भूल जायँ। मैं आप से कहता हूँ, अब आपके यहाँ ऐसी दुर्घटना घटित न होगी, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ आपके पुत्रों की अब मैं रक्षा कर सकूँगा। यदि मैं प्रतिज्ञा पूरी न कर सका, तो जीवित ही जल जाऊँगा दहकती हुई चिता में भस्म होकर पाप रहित हो जाऊँगा।"

ब्राह्मण ने अवहेलना के स्वर में कहा—'ऐसे शूरवीर मैंने बहुत देखे हैं। बलरामजी सबसे श्रेष्ठ बली कहाते हैं, वे भी मेरे पुत्रों की रक्षा न कर सके। जिन्हें ईश्वर का अवतार कहते हैं, वे भी कानों में उँगली डाले चुप चाप बैठे रहे। उनके सम्मुख मैं अपने नौ पुत्रों के शवों को पटककर चला गया। प्रद्युम्न जो कामदेव के अवतार हैं, जो चतुर्व्यूह में से एक हैं, वे भी मेरी प्रार्थना न सुन सके। ये अनिरुद्धजी जो अद्वितीय महारथी माने जाते हैं, ये भी जब मेरे बच्चों को न बचा सके, तो तुम क्या बचाओगे? राजन चाहे बुरा माने या भला मुझे तो आपके वचनो पर विश्वास होता नहीं। मुझे तो आपकी प्रतिज्ञा थोथी निस्सार प्रतीत होती है।

ब्राह्मण के इन वचनों से अर्जुन का क्षात्र तेज जाग उठा वे रोष में भर कर अत्यन्त ही अभिमान के साथ बोले—"विप्रवर! मैं बलराम नहीं हूँ, कृष्ण अथवा प्रद्युम्न के सदृश भी मुझे न समझें। मेरा नाम अर्जुन है, अर्जुन! कथा प्रसङ्ग में आपने मेरी वीरता की बातें सुनी ही होंगी। महाभारत के विजेता अर्जुन का नाम आज ससार में कौन नहीं जानता। मेरे धनुष का नाम गाडीव है, जो तीनों लोकों में विख्यात है जो अग्निप्रदत्त है और जिस पर चढाये बाण व्यर्थ नहीं जाते। मैंने अपने पराक्रम से पशुपतिनाथ पार्वतीपति को भी प्रसन्न किया है, कोई दूसरा ऐसी कठिन बात कहता तो मैं अभी उसका सिर धड से पृथक् कर देता। आप ब्राह्मण हैं पूज्य हैं अत. मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप मेरे पराक्रम का तिरस्कार न करें। मैं अधिक आपसे कुछ कहना नहीं चाहता। आप इतना ही समझ ले कि साक्षात् मृत्यु भी अब आपके पुत्र को लेने आवेंगे, तो उनसे भी युद्ध करके मैं आपके पुत्र की रक्षा करूँगा। आप निश्चिन्त हो जायँ।"

ब्राह्मण ने कहा—"राजन्! आप चिरंजीवी हों। भगवान् आपका भला करें। आपके बल पराक्रम की प्रशंसा मैं चिरकाल से सुन रहा हूँ। आप मेरी भावी सन्तान को मृत्यु से बचा लेंगे, तो मैं जीवन पर्यन्त आपके गुण गाता रहूँगा।" ऐसा कहकर ब्राह्मण अति प्रसन्न हुआ। अर्जुन की बात का विश्वास करके वह उनके गुणों का बखान करता हुआ, सहर्ष अपने घर चला गया। घर जाकर उसने अपनी पत्नी को भी यह सब समाचार सुनाया। पत्नी भी सुनकर प्रमुदित हुई। कुछ काल में ब्राह्मणी पुनः गर्भवती हुई।

जब ब्राह्मणी का प्रसवकाल प्रस्तुत हुआ, तब ब्राह्मण ने अत्यंत ही दीन वाणी से आकर अर्जुन से कहा—"हे गांडीव-धारी! हे वीरवर! अब अवसर उपस्थित हुआ है, मेरी संतान की अब तुम रक्षा करो।"

अर्जुन ने कहा—"विप्रवर, धैर्य धारण करें। मैं दिव्य अस्त्र शस्त्रों का ज्ञाता हूँ, तुम्हारे बच्चों को मरने नहीं दूँगा। चलो, तुम मुझे प्रसवगृह में ले चलो।" यह कहकर अर्जुन ब्राह्मण के साथ चल दिया।

ब्राह्मण के घर जाकर अर्जुन ने हाथ पैर धोये विशुद्ध जल से तीन बार आचमन किया। फिर अपने वरदाता भगवान् सदाशिव महादेवजी को प्रणाम किया, तदन्तर अपने दिव्यास्त्रों का स्मरण किया। अर्जुन के स्मरण करते ही उनके जितने दिव्य अमोघ अस्त्र थे वे सब के सब आकर उपस्थित हुए। हाथ में गांडीव धनुष लेकर पांडुनन्दन सव्यसाची वहाँ खड़े हो गये। उन्होंने नाना प्रकार के दिव्य अस्त्र मंत्रों से युक्त बाणों द्वारा चारों ओर से सूतिका गृह को घेर लिया। उसे इस प्रकार ढक लिया कि अर्जुन की आज्ञा और अनुमति के बिना वायु भी

प्रवेश नहीं कर सकते थे। इधर-उधर, ऊपर नीचे आडे तिरछे बाणों को बिछाकर सूतिका गृह को पिंजडे के सदृश बना दिया

था। इसी बीच ब्राह्मणी के बच्चा हुआ, सबने उसका स्पष्ट रुदन सुना, किन्तु अबके एक महान् आश्चर्य की बात हुई, और बार

ता बच्चा उत्पन्न होता था, कुछ देर जीवित रहता था, फिर मर जाता था, उसका मृतक शरीर पड़ा रह जाता था ब्राह्मण उसे राजा के द्वार पर डाल जाता था। अब के बच्चा तो पैदा हुआ किन्तु वह बार-बार रोता हुआ उसी समय शरीर शून्य में अन्तर्हित हो गया। अब वहाँ उसका मृतक शरीर भी न था। अर्जुन तो इस दृश्य को देखकर स्तम्भित रह गये। उनके दिव्य अस्त्र विफल नहीं हुए थे। आज वे यह समझ ही न सके बच्चे का शरीर चला कहाँ गया। निराश होकर श्यामसुन्दर के समीप लौट आये।

ब्राह्मण को बड़ी निराशा हुई। यह उसका दशवाँ पुत्र था, वह आशा लगाये बैठा था, अबके मेरा पुत्र अवश्य जीवित रहेगा, गांडीवधारी अर्जुन ने उसके बचाने का भार अपने ऊपर ले लिया है, किन्तु जब उसने देखा कि अब तो बच्चे का शव भी नहीं रहा, तब तो उसके दुःख का अन्त नहीं रहा रोता चिल्लाता, करुण विलाप करता हुआ वह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के समीप पहुँचा। सज्जनों की एकमात्र गति भगवान् वासुदेव ही हैं। भगवान् वासुदेव सुधर्मा सभा में सुखपूर्वक विराजमान् थे, उनके सम्मुख ही सव्यसाची अर्जुन म्लान मुख किये बैठे थे। मूर्तिमान रोष और दुख के सदृश वह द्विज वहाँ पहुँच ही तो गया और अर्जुन की निन्दा करते हुए सबको सुनाते हुए कहने लगा "हाय! काल की कैसी कुटिल गति है। भगवान् जिसे दुख देते हैं, उसकी गति को प्रथम ही हर लेते हैं। असमय में पुत्रों के मरने से मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। मैंने विश्वास न करने योग्य बात का विश्वास कर लिया।"

भगवान् ने मंद मंद मुसकराते हुए कहा—"विप्रवर! क्या बात है?"

रोष में भरकर ब्राह्मण बोला—"बात क्या है, महाराज!

मेरी बुद्धि पर पत्थर पड गये। मैं इस निर्वीर्य नपुंसक अर्जुन की बातों में आ गया। यह अपने बल की बड़ी डींग हाँकने लगा। इसने अपनी प्रशंसा के पुल बाँध दिये। 'मैं यह करूँगा, वह करूँगा। मृत्यु से लड़ूँगा, यमराज को पछाड़ूँगा, काल को मारूँगा।" न जाने इसने कितने अपने आप ही आत्म प्रशंसा युक्त वाक्य स्वयं कहे। मैं सीधा सादा ब्राह्मण। मैंने इसके मिथ्या वचनों का विश्वास कर लिया। मैंने पहिले ही कहा था—"भैया! क्यों तू अपनी मिथ्या प्रशंसा कर रहा है? अरे, देख जिसकी रक्षा कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धादि नहीं कर सके, उसकी तू रक्षा कैसे कर सकता है। इसने अभिमान में भर कर कहा—"मैं कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धादि नहीं हूँ। मैं अर्जुन हूँ अर्जुन। मेरा धनुष है गाडीव। अब वह अमोघ गाडीव कहाँ चला गया। पहिले तो बच्चे का मृतक देह भी रह जाता था अबके न जाने उसका शव भी कहाँ चला गया। और चला तब गया, जब यह अर्जुन धनुष बाण ताने अपने दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर रहा था। ऐसे मिथ्यावादी अर्जुन को धिक्कार है, उसके गाडीवधनुष को भी धिक्कार है। इसकी मूर्खता तो देखिये देव द्वारा दूर किये बालकों को यह अपने बल पुरुषार्थ के द्वारा लौटा लाने का दुस्साहस करता है। अब इसकी प्रतिज्ञा कहाँ गई ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दूसरा कोई इस प्रकार गाडीव-धनुष की निन्दा करता, तो अर्जुन तुरन्त उसका सिर धड से पृथक् कर देता, किन्तु एक तो ब्राह्मण अवध्य होता है, दूसरे वे अपनी प्रतिज्ञा को पूरी नहीं कर सके। अभिमान में भरकर बात उन्होंने बड़ी कह दी थी, किन्तु पालन उसका तनिक भी न हुआ। ब्राह्मण की ओर उनके नेत्र उठते नहीं थे। नीची दृष्टि करके शनैः-शनैः उन्होंने कहना आरम्भ किया—

"विप्रवर ! आप मेरी निन्दा न करें, मैं अभी निराश नहीं हुआ हूँ। तीनो लोकों मे जहाँ भी तुम्हारा पुत्र होगा, वहाँ से मैं उसे खोजकर लाऊँगा।"

ब्राह्मण ने व्यंग के स्वर मे कहा—"तुम ला चुके। जब तुम सम्मुख ही रक्षा नहीं कर सके, तो परोक्ष में अब क्या लाओगे। अच्छा, यह भी देखना है।" यह कहकर ब्राह्मण चला गया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब अर्जुन अत्यन्त सोच में पड गये। उन्होंने अभिमानवश ऐसी बात कह दी थी कि "मैं कृष्ण नही, बलराम नहीं, अर्जुन हूँ।" इसलिये भगवान् से कुछ पूछने का भी उन्हें साहस नहीं होता था। अब जिस प्रकार अर्जुन विप्र बालक को खोजने जायँगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कहो विप्र ! का यहाँ न कोई क्षत्रिय निवसे।
विलपै ऐसे विप्र न कोई घर तैं निकसै॥
तव सुत रक्षा करूँ देव ! अब नहिँ घबरावें।
होहि प्रसव को समय आइ पुनि मोइ बतावें॥
सुत रक्षा यदि नहिँ करूँ, जरूँ अग्निमहँ हँस्यो द्विज।
प्रसव काल आयो जबहिँ, गये पार्थ ले धनुप निज॥

निराश अर्जुन को भगवान् का आश्वासन

[११६२]

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना ।
ये ते नः कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० ४६ श्लोक)

छप्पय

छोडि शरनि घर घेरि बनायो पिंजरा सम तिन ।
जनम्यो शिशु करि रुदन भयो अन्तरहित तत् छिन ॥
अरजुन लज्जित भये विप्र कटु वचन सुनाये ।
द्विज सुत ढूँढन हेतु लोक पालनि पुर आये ॥
कहुँ मिल्यो बालक नहीं, लागे अरजुन तब जरन ।
'तोइ दिखाऊँ द्विज तनय, चल' बोले अशरन शरन ॥

कहावत है 'ठोकर लगने से ही बुद्धि आती है।' जब अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ, पुरुष कर चुकता है, तब उसका अभिमान नष्ट होता है, तब वह सोचता है कि करने कराने वाले श्रीहरि ही हैं। हम तो उनके यन्त्र हैं। जब तक धन का, बल का, विद्या का, कला-कौशल का तथा अन्यान्य किसी वस्तु का अभिमान है, तब तक भगवान् चुपचाप बैठे-बैठे देखते रहते हैं। जैसे बालक जब तक

---

* अर्जुन को आश्वासन देते हुए भगवान् कह रहे है—"अर्जुन ! तुम इस प्रकार अपने आप ही अपनी अवज्ञा मत करो। मैं तुम्हें विप्र के बालकों को दिखाऊँगा। ये ही सब लोग तुम्हारी विमल कीर्ति का स्थापित करेंगे।'

अपने पुरुषार्थ से किसी वस्तु को उठाना चाहता है, तब तक माता पिता देखते रहते हैं, जब वह अपने को असमर्थ पाता है, माता पिता की ओर देखकर निराशा के साथ रोने लगता है, तब माता पिता उसके काम में सहायता देते हैं।

सूतजी कहते हैं— मुनियो ! जब अर्जुन प्रतिज्ञा करके भी ब्राह्मण के पुत्र की रक्षा न कर सके और ब्राह्मण ने उन्हें तथा उनके गाण्डीव धनुष के लिये कहनी अनकहनी बातें कहीं, तब अर्जुन को बड़ा दुःख हुआ। वे योगी थे, सभी लोकों में उनकी अव्याहत गति थी, ब्राह्मण को उन्होंने आश्वासन दिया। विप्रवर ! तीनों लोकों में जहाँ भी कहीं तुम्हारा पुत्र होगा, मैं उसे खोजकर लाऊँगा।' ब्राह्मण खरी खोटी कहता हुआ लौट गया। अब, अर्जुन सोचने लगे—'लड़का मर कर यमपुर ही गया होगा क्यों न मैं यमपुर चलकर यमराज से उस बालक को माँग लाऊँ। श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने गुरुपुत्र को तथा देवकीजी के सात पुत्रों का ले तो आये थे।" इस विचार के आते ही उन्हें हर्ष हुआ। लज्जा के कारण वे श्रीकृष्ण भगवान् से भी कुछ न कह सके वे यमराज की संयमनीपुरी की ओर चल दिये। भगवान् ने भी कुछ नहीं पूछा कि तुम कहाँ जा रहे हो।' अपने योगबल से तुरन्त वे संयमनीपुरी में पहुँच गये। यमराज ने उनका आदर किया और आने का कारण पूछा।

अर्जुन ने कहा—"धर्मराज ! द्वारका के अमुक विप्र के पुत्र को आपके मन्त्री मृत्यु मारकर सशरीर यहाँ ले आये हैं, उसे मुझे दे दीजिये।"

यमराज ने आश्चर्य चकित होकर कहा—"नहीं राजन् ! ऐसे किसी लड़के के आने का समाचार मुझे नहीं मिला।"

अर्जुन ने यमराज से व्यग्रता के साथ कहा—"आप ! सम्भव

है भूल गये होंगे, मरकर तो प्राणी आपके ही लोक मे आते है। आप चित्रगुप्तजी से खुजवावें।"

यमराज ने तुरन्त चित्रगुप्तजी को बुलाया। दो दिन के आने वालों का सूची देखी, उसमे ब्राह्मण के बालक का कहा किसी स्थान मे उल्लेख ही नहीं था। यमराज ने कहा—"कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जिनका हमारे यहाँ लिखा पढ़ी नहीं होती, वे सीधे अन्य लोकों में चले जाते हैं। मेरे लोक में होता तब तो कोई बात ही नहीं थी भगवान श्रीकृष्ण नारायण के अवतार हैं, तो आप नरक अवतार हैं। हमारे लिये आप दोनों ही समान है।"

यह सुनकर अर्जुन बड़े विस्मित हुए। अब उन्होंने सोचा—'लाओ सभी लोकपालों की पुरियों में खोजें।' यह सोचकर वे प्रथम इन्द्र की अमरावतीपुरी में गये, वहाँ भी कुछ बालक का पता नहीं चला, तब वे वरुण के विभावरी तथा कुबेर की अलकापुरी में गये। सभी ने ब्राह्मणपुत्र के सम्बन्ध में अपनी अज्ञता प्रकट की। फिर वे अग्नि, निर्ऋति, साम तथा वायु आदि उपदिशाओं के लोकपालों की पुरियों में तथा अतल वितल आदि नीचे के सातों लोकों में गये। जब वहाँ भी किसी प्रकार का पता न मिला, तो उन्होंने सोचा—"त्रिलोकी से ऊपर जो महर्लोक आदि लोक है, उनमें बालक चला गया हो।" यह सोचकर वे महर्लोक, जन लोक, तपलोक तथा सत्यलोक तक गये। सत्यलोक में पहुँचकर उन्होंने ब्रह्माजी से पूछा।

ब्रह्माजी ने कहा—"भैया! मेरे यहाँ तो वह आया नहीं।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा, आपके यहाँ न आया हो, तो आप यह तो जानते ही होंगे कि वह बालक किस लोक में है, आप तो सर्वज्ञ हैं न?"

ब्रह्माजी ने कहा—"मैं सर्वज्ञ तो हूँ, किन्तु मेरे ब्रह्माण्ड में उसके उत्पन्न होने का लेखा है, किन्तु वह किस लोक गया

कौन उसे ले गया, मेरे ब्रह्माण्ड भर मे उसके सम्बन्ध की कोई लिखा पढी नही है। अब मैं तुम्हे क्या बताऊँ। मेरे ब्रह्माण्ड के सदृश असख्यो ब्रह्माण्ड हैं, मेरे सदृश असख्यों ब्रह्मा हैं, अब मैं सब ब्रह्माण्डो की बाते थोडे ही जान सकता हूँ, मेरा ज्ञान मेरे अपने ब्रह्माण्ड भर म सीमित है। मैं इतना ही जानता हूँ, मेरे ब्रह्माण्ड में वह जीव अब भी कहीं नहीं है।'

यह सुनकर अर्जुन तो अत्यत ही विस्मित हुए उनका सम्पूर्ण अभिमान चूर चूर हो गया। उन्हे जो अपने पुरुपार्थ का, गाडीव-धनुप का, दिव्य अस्त्रों का तथा योगबल का अभिमान था, वह सब नष्ट हो गया। वे हताश होकर लौट आये। आकर वे अत्यत खिन्न थे। ब्राह्मण स उन्होंने प्रतिज्ञा की थी —'यदि मैं तुम्हारे बच्चे को न बचा सका तो प्रज्वलित अग्नि मे कूदकर प्राण दे दूँगा।" अब अर्जुन को अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये अग्नि मे प्रवेश करना आवश्यक था। उन्होंने बडी भारी चिता बनायी उसमें अग्नि लगायी, ज्यों ही वे उसमे कूदना ही चाहते थे, कि भगवान् कृष्णचन्द्र ने आकर उनका हाथ पकड लिया और हँसते हुए बोले—"अर्जुन! हमने स्त्रियों को तो अपने पतियों के लिये सती होते देखा है, तुम किसके लिये सती हो रहे हो ?"

लजाते हुए अर्जुन ने कहा—"महाराज! मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सका। ब्राह्मण के बालक को मृत्यु के मुख से न बचा सका। सात नीचे के और सात ऊपर के, इस प्रकार चौदहो भुवनों में खोज आया, लडके का मिलना तो पृथक् रहा, कोई भी लोकपाल उसका पता नहीं बताते। जब मैं ब्राह्मण के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा को ही पूरा न कर सका, तो मेरे जीने से ही क्या लाभ है।

हँसकर भगवान बोले—"अच्छी बात है, तुम जलकर मरने का विचार छोड दो। एक नहीं ब्राह्मण के दशों बालकों को

दिखाऊँगा। दिखाऊँगा ही नहीं उन्हे लाकर तुम्हारे हाथों स ब्राह्मण को दिलाऊँगा। तुम चिन्ता को छोडकर मेरे पीछे आओ।"

यह सुनकर अर्जुन को बडा विस्मय हुआ उनके मन में आया 'इससे मेरी जगत् मे निन्दा तो होगी ही कि अर्जुन एक बालक था को भी न बचा सके।' सर्वान्तर्यामी भगवान् उसके मनोगत भावो को समझ गये और बोले—"अर्जुन तुम चिन्ता मत करो कि लोग मेरी निन्दा करेंगे। अरे, इस घटना से तो ससार के सभा लोग हमारी विमल कार्ति को स्थापित करेंगे। इससे तो हम दोनो का ही गोरव बढेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर अर्जुन परम सन्तुष्ट हुए। अब भगवान् ने अपना दिव्य रथ निकाला। उसमें अपने शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प, और बलाहक नाम के चार घोडोका जोता अर्जुन को रथ पर बिठाया और उन्होने बडे वेग से पश्चिम दिशा की ओर रथ दोडाया रथ वायु वेग से भी अधिक दौड रहा था दौडते-दौडते रथ कहाँ पहुँचा और वहाँ क्या हुआ, इस कथा प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

दै अरजुनकूँ धीर ताहि रथमहँ बैठार्यो।
पच्छिम दिशि करि लक्ष्य दिव्य रथ तुरत सिधार्यो॥
पर्वत, द्वीप, समुद्र, सात सब लङ्घन करि कें।
कर्यो घोर तम नाश सुन्दरशन आगे बढि कें॥
देख्यो तमके पार अति, दिव्य तेजमय लोकतहँ।
परे सहसफन अहि प्रबल, दिव्य उदधि के भवनमहँ॥

—०—

परम वैष्णवधाम में द्विजतनय

[११६३]

निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।
यत् किञ्चित्पौरुष पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ८६ अ० ६३ श्लोक)

छप्पय

तिनकी शय्या सुखद ताहि पै श्याम विराजैं ।
भूमा, अज, अखिलेश, अस्त्र, आयुध सह भ्राजैं ॥
पार्थ कृष्ण ने जाइ चरन वन्दन तिनि कीन्हे ।
भूमा पुरुष निहारि तनय दश द्विजके दीन्हे ॥
बोले भूमा पुरुष पुनि, नर नारायण उभय तुम ।
आओ भूको भार हरि, तुरतहिँ आयसु देहिँ हम ॥

सृष्टि मे जितना लीला विलास है, सब श्रीकृष्ण की कृपा का ही फल है। अनेक रूपों मे श्रीकृष्ण ही क्रीडा कर रहे हैं। उनके अंशावतार, आवेशावतार, कलावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार तथा पूर्णावतार आदि अनेकों अवतार हैं। ये सब भूमा

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् विष्णु के उस परम धाम को देखकर पृथा पुत्र अर्जुन को परम विस्मय हुआ। अब उन्हें इस बात का दृढ़ निश्चय हो गया, कि पुरुषों में जो भी कुछ पुरुषार्थ है, यह सब श्रीकृष्ण की अनुकम्पा के ही ऊपर निर्भर है।"

पुरुष श्रीकृष्ण से ही निकलते हैं और उन्हीं में जाकर लय हो जाते हैं जैसे मेघ समुद्रों से जल ले जाकर नदियों को भरते हैं, नदियाँ फिर जाकर समुद्र में मिल जाती हैं। इसी प्रकार यह आदान-प्रदान हो रहा है। अनेक रूपो में नटवर ही खेल कर रहे है। वे ही इस प्रपञ्च को चला रहे हैं। प्राणिमात्र में जो भी कुछ बल पुरुपार्थ है, उन्हीं भूमा भगवान श्रीकृष्ण की कृपा का प्रसाद है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ब्राह्मण के बालकों को लाने के लिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने दिव्य रथपर बैठकर अर्जुन को साथ लेकर पश्चिम दिशा की ओर चल दिये। रथपर श्रीकृष्ण और अर्जुन के अतिरिक्त तीसरा कोई नहीं था। घोडे मन के वेग की भाँति उड रहे थे। रथ से भगवान ने सात द्वीपों को, उनके सात मर्यादा पर्वतों को तथा सातों समुद्रों को पार किया। तदनन्तर वे पृथ्वी के अन्त में उस लोकालोक पर्वत के समीप पहुँचे जिसके इस ओर तो प्रकाश है और उस ओर अधकार है। भगवान का रथ किसी से भी उल्लङ्घन न किये जाने वाले उस पर्वत को लाँघ गया। अब उसके आगे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र किसी का भी प्रकाश नहीं था। घोर अधकारमय मार्ग था। भगवान के प्यारे शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक दिव्य घोड़े भी उस मार्ग में भटकने लगे।

योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् वासुदेव ने जब देखा, घोडों की भी दृष्टि अवरुद्ध हो गयी है, तो उन्होंने अपना सहस्रों सूर्यों के सदृश प्रकाशमान सुदर्शन चक्र को आगे छोड़ा। वह घोडों के आगे-आगे दिव्य अलौकिक प्रकाश करता हुआ चलने लगा। घोडों की गतिसे भी उसकी गति तीव्र थी। तीव्र तम को अपने तीक्ष्ण तेज से विदीर्ण करता हुआ, वह मन से भी अधिक प्रबल गति से पथ को पार रहा था। घोडे उसी के आलोक में आगे बढ़ रहे थे। जैसे धनुष से छूटा रामबाण शत्रु सेना का संहार

करता हुआ आगे बढ़ता ही जाता है, वैसे ही वह रथ सुदर्शन के आलोक में आगे बढ़ता ही जा रहा था। चिरकाल तक तमोमय पथ का पार करने के अनन्तर भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र को लौटा लिया। अब आगे अर्जुन क्या देखते हैं कि एक महान प्रकाशमय लोक है, उस प्रकाश की किसी से उपमा नहीं दी जा सकती। जिसका वर्णन किसी भी भाषा के शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। उस महान, अनन्त, व्यापक परमोत्कृष्ट प्रकाश को देखकर अर्जुन की आँखों के सामने चकाचौंध सा छा गया। उस प्रकाश के तेज को न सह सकने के कारण अर्जुन ने अपने दोनों हाथों से दोनों आँखों को बन्द कर लिया।

रथ बराबर द्रुत गति से चल रहा था। चलते चलते उसने प्रबल प्रभञ्जन से कम्पायमान बड़ी बड़ी उत्ताल तरङ्गों वाले दिव्य अमृत के समुद्र में प्रवेश किया। उस समुद्र में एक बड़ा ही अलौकिक मणिमय स्तम्भों से सुशोभित परम कान्तिमय, दिव्य, अनुपम, नाना रत्नों से विभूषित मणिमय भव्य भवन देखा। उस सम्पूर्ण विशाल भवन को घेरे हुए एक अति भयानक परम आश्चर्यजनक अलौकिक सर्प को गुडुमुडी मारे पड़े देखा। उसके सहस्र नेत्र उन फणों मे ऐसे ही चमक रहे थे मानों उन सब में पृथक पृथक सूर्य, चन्द्र जड़ दिये हों। कैलाश पर्वत के सदृश वे सर्प श्वेत वर्ण के थे। काली काली दो सहस्र जिह्वाओं से वे किसी मन्त्र का जाप कर रहे थे, वे सर्पराज शेषजी थे।

पाडुनन्दन अर्जुन बड़े विस्मय के साथ कैलाश पर्वत के सदृश ऊँचे उन शेषजी के दर्शन करके स्तम्भित और विस्मित हो रहे थे। उन्होंने देखा उन्हीं शेष के शरीर की सुखद सुन्दर शय्या बनाये सर्वव्यापक, परम प्रभावशाली पुरुषोत्तम प्रभु प्रेमपूर्वक पौढ़े हुए हैं। उनके सुन्दर शरीर की शोभा जल भरे मेघों के सदृश श्याम वर्ण की है। शरीर पर सुन्दर सुहावन पीताम्बर पड़ा हुआ

है। अपनी परम स्निग्ध कमनीय कान्ति से उस भवन को परम आलोकित बनाये हुए हैं। उनका मनोहर मुख शारदीय सरोरुह के सदृश, विकसित और प्रफुल्लित है, अति सुन्दर मनोहर हास्य की छटा से सुप्रसन्न वदन बड़ा ही मनोहर और आकर्षक बना हुआ है। आनन्दातिरेक के कारण उनके सुन्दर बड़े बड़े विशाल नेत्र अत्यंत स्निग्ध और आकर्षक प्रतीत होते हैं। उनके माथे का मनोहर मणिमय मुकुट, महामूल्यवान मणियों के कारण मन को मोह रहा था। कानों के कमनीय कनक कुन्डलों की कान्ति से उनके कुटिल केश दमक रहे थे। भगवान के बड़ी बड़ी विशाल आठ भुजायें थीं। जिनमें वे शंख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष, बाण असि और चर्म य अस्त्र आयुध धारण किये हुए थे। उनके वक्षः स्थल पर कौस्तुभ मणि शोभायमान थी। उसी पर श्री वत्स का चिन्ह चिन्हित था। विशाल वनमाला से वह आवृत था। उनके इधर उधर, सनकादि ऋषि मुनि, नन्द सुनन्द आदि पार्षद तथा शंख, चक्रादि आयुध मूर्तिमान होकर समुपस्थित थे। इनके अतिरिक्त पुष्टि, श्री, कीर्ति और अजा ये चार शक्तियाँ तथा ऋद्धियाँ निरन्तर उनकी सेवा में संलग्न थीं।

भगवान् वासुदेव ने अपने आत्मरूप उन भूमा पुरुष की वंदना की, भगवान् की देखा देखी भय से कातर अर्जुन ने भी उनका अभिवादन किया। उन विश्व वन्दित विश्वम्भर के निकट ये दोनों ही अञ्जलि बाँधे अत्यन्त शिष्टाचार के साथ खड़े हुए थे। दोनों को हाथ जोड़े खड़े देखकर समस्त लोकपालों द्वारा पूजित, सर्व-व्यापक, सबके स्वामी वे पुरुषोत्तम प्रभु मन्द-मन्द मुसकराते हुए मेघ गम्भीर वाणी में बोले—"तुम दोनों मेरे दर्शनों के निमित्त आये यह बड़ी मङ्गल की बात है। तुम दोनों बदरीवन में तपस्या करने वाले नर नारायण ऋषि हो। तुम दोनों मेरी ही कलाओं से धर्म की रक्षा के निमित्त अवनि पर अवतरित हुए हो। तुमने बहुत

मे नर रूप में उत्पन्न असुरों का संहार किया। अब मैं चाहता हूँ, जो असुर अब अवशिष्ट हैं, उन सबका भी शीघ्र संहार करके

तुम दोनों मेरे समीप आ जाओ। यद्यपि तुम्हारे लिये कोई कर्तव्य नहीं, तथापि लोकरक्षणार्थ, तथा जगत की स्थिति बनाये रहने के

हेतु से तुम धर्म का आचरण करो। मेरी इच्छा तुम्हे देखने की थी, इसी निमित्त तुम्हारे ब्रह्माण्ड से में विप्र बालकों को हर लाया था। अब मैंने तुम्हे देख लिया, तुम इन ब्राह्मणकुमारों को ले जा सकते हो, अब पृथ्वी पर अधिक काल तक रहने की आवश्यक्ता नहीं अविलम्ब तुम दोनों यहाँ आ जाओ।" इतना कहकर वे भूमा भगवान् मौन हो गये।

आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी ने शिर झुकाकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके कहा—"अच्छी बात है हम ऐसा ही करेंगे। अब हमें आज्ञा है न ?"

भूमा भगवान् ने कहा—"हाँ, अब तुम जा सक्ते हो।"

यह सुनकर दोनों ने श्रद्धा सहित उन पूर्णकाम प्रभु के पाद-पद्मों में प्रणाम किया और ब्राह्मण के दशों बालकों को साथ लेकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए वे उसी मार्ग से रथ पर चढकर चल दिये, जिस मार्ग से आये थे। उसी प्रकार सुदर्शन चक्र के प्रकाश के सहारे महान् अन्धकारमय प्रदेश को पार करके ससुद्र द्वीप और मर्यादा पर्वतों को लाँघकर वे द्वारकापुरी मे लौट आये वहाँ आकर दोनों ब्राह्मणों के घर गये और जाकर भगवान् उनसे बोले—"विप्रवर! अर्जुन ने आपके एक ही पुत्र की रक्षा की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु अब वह आपके सभी मृतक पुत्रों को लौटा लाया। लीजिये आपके ये दशों पुत्र समुपस्थित हैं।" ब्राह्मण ने देखा, मेरे पुत्र तो सब एक एक वर्ष छोटे उसी अवस्था के क्रम से उपस्थित है। अपने दश पुत्रों को पाकर ब्राह्मण ब्राह्मणी दोनो ही परम सतुष्ट हुए, उन्होंने श्रीकृष्ण और अर्जुन को अनेकों आशीर्वाद दिये और अपने अशिष्ट व्यवहार के निमित्त क्षमा याचना की।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस घटना से अब तो अर्जुन

की आँखें खुल गयीं। अब तक वे जो अपने को विश्व विजयी मानकर अपने बल, पुरुषार्थ तथा अस्त्र-शस्त्र की चातुर्य पर अभिमान करते थे, वह सब उनका अभिमान चक्नाचूर हो गया, अब वे समझ गये कि प्राणियों में जितना पुरुषार्थ है, पराक्रम है, वह सब इन क्रीडा प्रिय कृष्ण की कृपा का ही परिणाम है।

शौनकजी पूछा—"सूतजी! हमें तो इस घटना से बडा आश्चर्य हो रहा है। हम तो श्रीकृष्णचन्द्र को ही परिपूर्णावतार स्वय साक्षात् श्रीहरि समझते थे। इन भूमा पुरुष के सम्मुख तो भगवान् उनकी एक कला के अवतार ही सिद्ध हुए। ये भूमा पुरुष कौन हैं?"

यह सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"महाराज! आप इन छलिया कृष्ण की माया में न आवें। करने कराने वाले ये ही सब श्यामसुन्दर हैं। ये बडे मायावी है। ये ही अंश हैं, ये ही कला हैं, ये ही भूमा हैं, ये ही विश्वम्भर हैं। जब जैसा चाहते हैं, तब तैसा रूप बना लेते हैं। गोवर्धन पूजा के अवसर पर एक रूप से तो गोवर्धन पर्वत पर गोवर्धन बनकर बैठ गये, दूसरे रूप से स्वय हाथ जोडकर उनकी स्तुति करने लगे। परब्रह्म भूमा, विष्णु तथा नर नारायण ये सब इन्हीं के श्री अंग में सन्निहित हैं। जब जैसा चाहते हैं, तब तैसा रूप बना लेते हैं। ये भूमा पुरुष इनसे भिन्न नहीं। इन्होंने ही वह रूप बनाकर अपनी लीला सवरण की सूचना अर्जुन को दी थी।

इस प्रकार भगवान् ने व्रज, मथुरा और द्वारका में रहकर अनेकों क्रीडा की, भाँति-भाँति के पौरुष दिखाये, बहुत से विवाह किये, बहुत से बच्चे पैदा किये, आत्म क्रीडा तथा आत्मरति होने पर भी सम्पूर्ण ग्राम्य विषयों का भोग किया, धर्म के आचरण किये, दान किया, धर्म किया वापी कूप तड़ागादि निर्माण कराये तथा बहुत से यज्ञों का भी अनुष्ठान किया। उन्होंने इन्द्र के

समान कृपा की वृष्टि की, कल्पवृक्ष के समान चारों वर्णों की इच्छाओं को पूर्ण किया, सभी को सुख दिया। सभी का सम्मान किया जो धर्म के विरोधी अधार्मिक राजा थे, उनमें से बहुतों को स्वयं मारा, बहुतों को बलदेवजी तथा अर्जुनादि से मरवाया। दुर्योधनादि अधार्मिक राजाओं को मरवाकर धर्मराज युधिष्ठिर को सम्राट बनाकर पृथ्वी पर पुनः धर्म की स्थापना की। जब सब काम हो गया, तो अब अपने धाम को प्रस्थान करने के लिये उद्यत हो गये। उनके स्वधाम पधारने की बात का आभास उनकी प्राण प्रियाओं को बिना बताये ही पहिले से हो गया था। उसी के आवेश में जड़ और उन्मत्तों के समान जो उन्होंने प्रलाप किया, उसका कुछ दिग्दर्शन मैं आगे कराऊँगा, अब आप समाहित चित्त से इस प्रलाप को श्रवण करें।"

छप्पय

करिकें दव प्रनाम द्वारका दोऊ आये।
द्विजके दश हू तनय दये दोऊ हरपाये॥
समुझे अरजुन भेद करनहारे सब हरि हैं।
कोई करि नहिं सकै कछू कारे सब करि हैं॥
यों लीला सवरण की, यदुनन्दन निश्चय कर्यो।
भावमयी हरि भामिनिनि, को आपुहि हीयो भर्यो॥

श्रीकृष्ण पत्नियों का लीलाविहार और प्रलाप

[११९४]

कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः ।
नर्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृताधियः ॥
ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जडम् ।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥*

(श्री भा० १० स्क० ९० अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

भाग्यवती हरि प्रिया रिझावैं हरि कूँ नित प्रति ।
रहें सुखी सब सदा सुमिरि श्रीहरि चितवन गति ॥
कमलनयन सुख दयो सरसता महँ सब पागीं ।
अब सब कूँ अति विरहमयी लीला ते लागीं ॥
कुररी, चकवी, नीरनिधि, चन्द्र, मलय मारुत, सरित ।
कोकिल, भूधर, सजलघन, कहहिँ सबनि लखि कछु दुखित ॥

जो होना होता है, उसका आभास पहिले से ही मिल जाता है। कोई महापुरुष आने वाले होते हैं, तो उनके आने के पूर्व

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् अपनी पत्नियों के साथ विहार करते थे भगवान् की गति, आलाप, चितवन, मुसकान, परिहासोक्ति, विलास तथा विविध आलिङ्गनादि से उन स्त्रियों की मति हरी गयी थी। उन प्राणप्रिया प्रभुपत्नियों ने अरविन्दाक्ष भगवान् वासुदेव का ही चिन्तन करते हुए उन्मत्त और जड के सदृश जो शब्द कहे, उनको मैं तुमको सुनाता हूँ, तुम उन्हें श्रवण करो।"

वहाँ श्री आ जाती है क्योंकि वहाँ वे संकल्प से पहिले ही पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार उत्सव के अंत में वहाँ की शोभा नहीं रहती वहाँ की श्री चली जाती है। हम मुखसे न कहें जो संकल्प मन में करें वे सब भी वायुमंडल में फैल जाते हैं और सूक्ष्म चित्त के लोगों को उनका आभास मिल जाता है। योगी तो मन से बैठे-बैठे बातें कर ही लेते हैं, किन्तु प्रेमी भी अपने प्रेष्ठ के मनोगत भावों को समझ जाते हैं औरों के सम्मुख चाहें भाव छिप भी जायँ किन्तु प्रेमी के सम्मुख तो छिप ही नहीं सकते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के अवतार तो बहुत हुए, किन्तु जैसा आकर्षक यह कृष्णावतार हुआ वैसा दूसरा अवतार हुआ ही नहीं। कितना सौंदर्य माधुर्य इस अवतार में प्रकट हो गया, इसकी कल्पना स्वयं श्रीकृष्ण को भी नहीं थी। जिसने भी इस रूप को देखा, वह कृत हो गया, फिर उसके चित्त पर दूसरा सौंदर्य चढ़ा ही नहीं। जिस कृष्ण दर्शन के कारण भूमा पुरुष को भी चोरी करनी पड़ी, उसके सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है भूमा पुरुष को ब्राह्मण के बालकों से क्या प्रयोजन था। वे तो श्रीकृष्ण के दर्शन करना चाहते थे, इसी लोभ से बालकों को चुरा ले गये, कि भगवान् बालकों को लेने आवेंगे हमें भी दर्शन हो जायँगे। क्षण भर के दर्शनों से ही भूमा भगवान् प्रसन्न हो गये, फिर जो कृष्ण पत्नियाँ रात्रि दिन भगवान् के साथ रहती थीं, उनकी छोटी मोटी सभी सेवायें करती थीं, उनके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। भगवान् ने अपने हृदय के प्रेम स्रोत को उन बड़ भागियों के निमित्त उन्मुक्त कर दिया। कितने सुखसे, कितने उल्लास से द्वारावती में रहकर उन भाग्यवती भामिनियों के साथ भगवान् ललित लीलायें किया करते थे। वह कुशस्थली द्वारावती वास्तव में त्रिभुवन यशस्करी

बन गयी थी, जिसमें निवास करते हुए श्रीनिवास सबको सुखी बनाते रहते थे।

जिस द्वारावती के सजे सजाये स्वराज्य पथों पर मदोन्मत्त हाथियों के मद की कीच बनी रहती थी, जिसकी गन्ध से हथिनियों का धैर्य छूट जाता था। उन राजपथों पर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित सैनिक पंक्तियाँ बाँधकर इधर से उधर घूमते रहते थे। राजपथ विशाल और विस्तृत होने पर भी जिनमें निरन्तर भीड़ आती जाती रहती थी, सहस्रों सजे सजाये घोड़ों पर चढ़कर अश्वारोही जाते आते रहते थे। सुवर्ण से देदीप्यमान बड़े बड़े विशाल रथों से पथ भरे रहते थे। पथों के दोनों पार्श्वों में पंक्तिबद्ध फल पुष्पों से नमित सघन पादप लगे हुए थे। पुरी में जितने राजघराने के भवन थे सबके भीतर छोटे छोटे उद्यान थे। नगर में भी बीच में उद्यान, उपवन तथा फुलवारियाँ थीं। उन सबमें बारहों महीने पुष्प खिले रहते थे। उन खिले पुष्पों पर मधु लोभी भ्रमर निरन्तर गुंजार करते रहते थे। मधुमक्खियाँ उनमें से रस पी पीकर इधर से उधर उड़ती रहती थीं, रंग बिरंगी तितलियाँ, पुष्पों पर बैठी ऐसी प्रतीत होती थीं मानों पुष्पों ने मुकुट पहिन लिया हो। आम, जामुन, नौजपूर, सीताफल, अमरूद तथा अन्यान्य फलवाले पादपों पर बैठे शुक, पिक, पारावत तथा अन्यान्य खग वृन्द अपने अपने कमनीय कंठों से कलरव करते हुए, दशोदिशाओं को मुखरित करते रहते थे।

द्वारकापुरी का सम्पत्ति का, सुख सामग्री तथा समृद्धि का वर्णन कौन कवि कर सकता है, जहाँ समस्त लोकपालों ने अपनी विभूतियाँ भेज दी थीं। विश्वकर्मा ने जिनका निर्माण बड़े मनोयोग से किया था। यदुवंशी राजकुमारों के भव्य भवनों से जो बड़ी ही भली लगती थी। यादवों के भवनों के भीतर ही, उपवन तथा क्रीड़ा स्थान थे। जिनमें एड़ी तक चोटी लटकाये, नवयौवन

की कान्ति से कान्तिमती, चंचला चपला विद्युत् के समान द्युतिमती कानों में कमनीय कनककुंडल धारण किये अत्यन्त मनोहर वेष वाली बालाएँ एकान्त में मिलकर कन्दुकादि क्रीडायें किया करती थीं तथा अन्यान्य मनोरञ्जक खेल किया करती थीं, उस परम पुण्यमयी द्वारावती में निवास करते हुए द्वारकानाथ श्रीश्यामसुन्दर सभी को सुख देते थे। सभी की इच्छाओं को पूर्ण करते थे वे सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियों के एकमात्र पति थे। फिर भी वे उनके परम ऐश्वर्य सम्पन्न सभी घरों में पृथक्-पृथक् रूप रखकर, निरन्तर निवास करते हुए रनिवास में रहने वाली सभी दास-दासियों और स्वामिनियों को सुख पहुँचाते हुए सभी के मनको अपनी ओर आकर्षित करते रहते थे। कृष्ण पत्नियों के भवनों में भिन्नता नहीं थी। भोग सामग्रियों का सकोच नहीं था भगवान् का व्यवहार सभी के साथ समान था। सभी भवन एक ही समान लम्बे-चौड़े थे। सभी सुन्दर, स्वच्छ, समस्त सुख सामग्रियों से सम्पन्न, सर्व ऋतुओं में सुहावने और सुखप्रद थे। सबके भीतर वायु सेवनार्थ उद्यान थे, सबमें सुन्दर स्वच्छ सलिलसरोवर थे, जिनमें नीलाम्बुज, पद्म, कह्लार, कुमुद तथा विविध जाति के कमल खिले रहते थे जिनकी सुगन्धि पराग से भवन सदा सुवासित बने रहते। उन छोटे छोटे जलाशयों में हंस, सारस, बगुल आदि जलजन्तु स्वच्छन्द विहार करते हुए कूजते रहते थे। उन छोटे-छोटे जलाशयों के अतिरिक्त बड़े-बड़े सरोवर थे, जिनमे श्यामसुन्दर अपनी प्रियाओं के साथ जलकेलि किया करते थे, निर्भय होकर उनकी प्रेयसी उन्हें पकड़कर जल में डुबो देतीं, वे उनको पकड़कर डुबो देते, जिससे उनके शरीर की केशर से श्यामसुन्दर हरित रंग के से प्रतीत होने लगते। उनका 'हरि' नाम उसी समय सार्थक होता।

अपनी प्रियाओं से आलिङ्गित हुए जब वे उल्लास के साथ

जलकेलि करते, तब अन्तःपुर मे बिना संकोच के आने वाले सूत, मागध, बन्दीजन उनकी स्तुति करते तथा नट-नर्तकी और गधर्वगण आकर मृदङ्ग, पणव, और आनक आदि बाजे बजाकर वीणा आदि में सुललित तान छेड़कर प्रसन्नतापूर्वक उनका यशोगान करते। इस पर वे श्यामसुन्दर से तथा उनकी प्रियाओं से चित्र विचित्र वस्तुओं के पारितोषिक पाते। जब वसंत का समय आता, आम्र मञ्जरी की पूजा हो जाती, तब होलियों के समय में प्रियायें उनके साथ होली खेलतीं। वे सबकी सब अपने अति सुकुमार कोमल करों मे रंग की भरी हुई पिचकारियाँ लेतीं और चारों ओर से घेरकर श्यामसुन्दर को भिगो देतीं। तब आप पर भी न रहा जाता, पीताम्बर की फेंट बाँधकर हाथ मे पिचकारी लेकर आप भी फाग रंगमंच पर सजे सजाये नट के सदृश उतर आते और उनके सुकुमार अंगो को भिगो देते। रंग मे उन्हें निमग्न कर देते। उनके रेशमी झीणवस्त्र उनके पीत चपा के रंग वाले अंगो मे चिपक जाते, जिससे उनकी शोभा एक विचित्र प्रकार की ही हो जाती। उनके वेणियों में गुँथे हुए पुष्प बिखर जाते, उनके समस्त अङ्ग रोमाञ्चित हो जाते, शीत के कारण वे थर-थर काँपने लगतीं, तब साहस करके वे श्यामसुन्दर से सट जातीं, सुवर्णलता के सदृश लिपट जातीं और बलपूर्वक उनके हाथों से पिचकारी को छीनने लगतीं। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो श्यामघन से लिपटी बिजली दमक रही हो। इस छीना झपटी में दोनों के ही मुखकमल खिल जाते। दोनों के ही अंग रोमाञ्चित हो जाते, दोनों के ही शरीरों से स्वेदबिन्दु निकलने लगते, उस समय उनकी शोभा अनुपम हो जाती। कुबेर जिस प्रकार यक्षिणियों से क्रीड़ा करते हैं गजराज जैसे अपनी हथिनियों के साथ क्रीडा करते हैं, मृग जैसे अपनी हरिनियों के साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार यदुनन्दन

अपनी प्रियाओं के साथ निर्भय होकर क्रीडा करते। बारम्बार उन्हे पिचकारियों से भिगोते, स्वय भी उनके द्वारा वे भिगोये जाते, उस क्रीडा में सकोच, भय, दुराव का कोई काम नहीं था। निर्भय होकर हृदय खोलकर वह होली होती। क्रीडा करने के अन्तर भगवान अपने उन वस्त्रो को गाने बजाने वाले नट नर्तकों को देते और उनकी रानियाँ अपने वस्त्रों को नटी और नर्तकियों को दे देतीं। यही उनकी आजीविका थी, इसी की आशा लगाये वे उनका मनोरञ्जन करते थे।

भगवान् उन्हे इस प्रकार सुखी करते कि उन्हे ससार की कुछ सुधि बुधि ही न रहती उनके साथ लीलापूर्वक ऐसे मन्द मन्द चलते कि वे आत्म विस्मृत बन जातीं। ऐसी घुल घुल कर मीठी-मीठी ऐकान्तिक वार्ताएँ करते कि उनका चित्त पिघल जाता पानी पानी हो जाता वे उस प्रवाह मे बहने लगती। भगवान् इतनी अनुराग भरी चितवन से उनकी ओर निहारते, इस प्रकार मन्द मन्द मुसकराकर उनकी ओर देखते कि उनका धर्य छूट जाता और वे श्यामसुन्दर के अतिरिक्त किसी के विषय मे सोचने मे असमर्थ-सी बन जातीं, उन्हीं के भावों में भावित होकर तन्मय हो जातीं। भगवान ऐसी चुभती हुई हँसी करते, ऐसी हास विलास की बातें बनाते कि वनिताओं के बदन विकसित हो जाते। जब वे उन भाग्यवती देवियो को स्नेहपूर्वक अपने हृदय से लगा लेते तब तो वे उनमें तन्मय ही हो जातीं। कभी कभी भगवान उन्हे साथ लेकर दूर वनों मे पर्वत शिखरो पर सरिताओं के तटो पर चले जाते, वहाँ विहार करते। इधर कुछ दिनो से उन कृष्ण प्रियाओं को एक रोग हो गया था। वह रोग ऐसा असाध्य था कि उसकी कोई न तो चिकित्सा थी न औषधि। बैठे ही बैठे वे कुछ बकने लगतीं थीं। उन्हे ऐसा अनुभव होने लगता, मानों श्याम सुन्दर हमें छोड़कर चले गये हैं, या जाने वाले हैं। यद्यपि वे

श्यामसुन्दर के अंक में स्थित हैं, फिर भी भ्रम तो भ्रम ही है। उन्हें भ्रम हो जाता और वे किसी को लक्ष्य करके जड उन्मत्तो के समान प्रलाप करने लगतीं। उनकी वे बाते अटपटी बिना सिर पैर की होतीं। मुनियो ! आप सुनना चाहें तो उन अटपटी बातों में से कुछ सुनाऊँ ?"

चौंककर शौनकादि मुनि बोले—"अवश्य सुनाइये महाभाग ! प्रेम का तो पन्थ ही अटपटा है। यहाँ की तो सभी बातें अटपटी है। प्रेम के शब्दो का अर्थ नहीं होता, वे बुद्धि से नहीं समझे जाते उनके लिये हृदय चाहिये। हृदय भी ऐसा हो, जो प्रेम में पगा हो, अनुराग में रंगा हो, रति में भीगा हो, श्रद्धा में सना हो भक्ति में भावित हो, प्रीति में ओत प्रोत हो और नेह में निचोड़ा गया हो। सूतजी ! हमारा हृदय तो ऐसा नहीं। महाभाग ! हम तो हतभागी हैं। कठोर तप करते-करते हमारा हृदय भी कठोर हो गया है। कृष्ण प्रियाओं के प्रेम प्रलाप के सुनने के हम अधिकारी तो नहीं हैं किन्तु आपसे इसीलिये प्रार्थना करते हैं कि संभव है इसके सुनने से ही हृदय कुछ पिघले, इसकी कठिनता दूर हो। अतः इस प्रसङ्ग को आप हमें अवश्य सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! आप अपनी क्या कहते हो, कहने की सामर्थ्य मुझमें भी नहीं है। आप तो अनुराग की मूर्ति हो। आपके सान्निध्य से संभव है मैं कुछ कहने में सामर्थ्य हो सकूँ। अच्छी बात है सुनिये कुछ 'महिषी गीत' के पद।"

कृष्ण पत्नियों के हृदय में भगवान् का भारी वियोग समा गया था। वे ऐसा अनुभव करने लगीं श्याम हमें छोडकर चले गये। श्याम के बिना यह सब जग सूना है यह संसार श्याम के वियोग में रो रहा है। अब वे जिसे देखतीं उसी से श्याम के वियोग की बातें करतीं। रात्रि में उन्होंने देखा कुररी पक्षिणी बडे करुण स्वर में रोती हुई जा रही है। उसे लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी—

(१)

कुररी क्यों रोवति सु निशामें ।
सोवत श्याम सुखद शय्या पै विवन करति तू तामें ॥१॥
बात बताइ वीर ! विपताकी, डूबी बिरह विथामें ।
ये सुख दैनि रैनि प्रिय सँग महँ हँसि-हँसि बहिन ! बितामें ॥२॥
नींद नहीं आवति है तोकूँ यदि प्रान प्रिय भामे ।
कुटिल कटाक्ष कमलदल लोचन मर हियमहँ धँसि जामें ॥३॥
तो फिर भूख नींद सुख सजनी निशि वासर न सुहामें ।
हम हूँ व्यथित दुखित निशि रोवति तोकूँ का समुझामें ॥४॥

इतने में ही सबने एक चकवी को देखा, रात्रि में चकवी अपने पति के साथ नहीं रह सकती। उसे किसी का शाप है, जहाँ सूर्य अस्त हुए तहाँ पति पत्नि पृथक् हुए। पति इस पार रहते हैं, तो पत्नि उस पार चली जाती है। दोनों रात्रि भर वियोग में तड़पते रहते हैं। सूर्योदय होने पर फिर मिल जाते हैं। रात्रि में अपने पति के वियोग में दुखी चकवी प्यारे की याद कर-कर के चुपचाप बैठी नयनों से नीर बहा रही थी। उसे लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी–

(२)

चकवी ! किन मूरति तू ध्यावे ।
पति वियोग तैं व्याकुल बनिकें बार-बार बिललावै ॥१॥
निशि नहिं नींद नीर भोजन तजि नयननि नीर बहावै ।
समुझि श्याम दासी तू हम कूँ मत सौभाग्य सरावै ॥२॥
दास भाव महँ दुख पग-पग पे, बनि पाछैं पछितावै ।
हरि चरननि पै अरपित माला जो तू शीश चढ़ावै ॥३॥
तो सजनी ! सबई फिर जीवन यों ही विलपत जावै ।
निपट निठुर नर कपटी सबई, मत तू नेह बढ़ावै ॥४॥

फिर उन्होंने हर हर शब्द करते हुए अपार सागर को सम्मुख निहारा। वह निरन्तर शब्द करता रहता है। रात्रि दिन में कभी

भी विश्राम नहीं करता। एक महिषी उस की लक्ष्य करके गाने लगी—

(३)
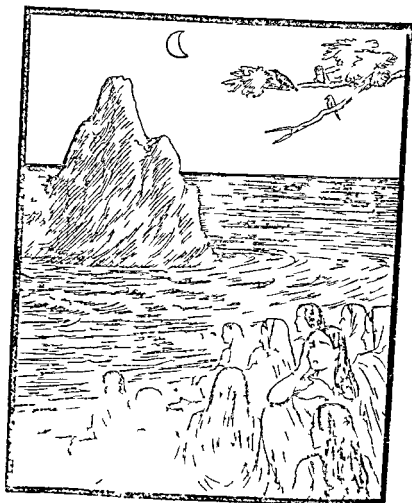
सागर ! क्यों गरजत निशि वासर ।
नींद लाप को रोग भयो का जागत रहत निरन्तर ॥१॥
का चितचोर चुरायी तुमरी कौस्तुभमणि अति सुन्दर ।
अथवा शख हरन के कारन कोसत हो नित नटवर ॥२॥
अथवा प्रियावियोग जनितदुख उमडि घुमडि उर अन्तर।
प्रलपत रहत प्रेम के कारन है अति प्रेम भयकर ॥३॥
हमरो चित्त चुरायो हरिने हम तुम एक बराबर ।
प्रभुकी करनी प्रभु ही जाने प्रेम गली अति साँकर ॥४॥

फिर सबने कृष्ण पक्ष के मलिन चन्द्रमा को देखा। कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा नित्य नित्य क्षीण होने से मलीन-सा दीखता महिषियो ने सोचा जब कृष्ण के पक्ष का चन्द्रमा ऐसा मलीन हो जाता है, तो कृष्ण का पक्ष लेने वाली हम कृष्ण की प्यारी मलीन क्या न होगी। कृष्ण का पक्ष ही लेना बुरा है। इसी भाव को प्रकट करती हुई एक महिषी कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा को लक्ष्य करके गाने लगी–

(४)

शशि ! क्यों सुन्दर वदन मलीन ।
तम तव रिपु तव निकट विराजत करत न ताकूँ छीन ॥१॥
राज रोग क्षय दुख अति दारुन ता तें तुम हो दीन ।
अथवा तुमहू ठगे श्यामने जो सब कला प्रवीन ॥२॥
सुनि सुनि सरस श्याम की बतियाँ छतियाँ छेद नवीन।
विधिके भयो हियो छननी सम कान्ति भई सब छीन ॥३॥
तुम सम हम हूँ परम दुखित शशि ! भईं निठुर आधीन ।
प्रभु बिनु जग सूनो सब दीखत कृष्ण पक्ष अति हीन ॥४॥

फिर श्रीकृष्ण पत्नियों ने देखा सुन्दर सुखद शीतल मन्द सुगन्धयुक्त मलयानिल बह रहा है। जो सब प्राणियों में कामोद्दीपन करता है। उस मलय मारुत को लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी–

(५)

मलयानिल ! क्यों दुखी बनाओ।
हम अबला जगमहँ अति निरबल क्यों हिय चोट चलाओ ॥१॥
आपुहिँ दुख श्याम दुख दीनो नमक कटे बुरकाओ।
हरि कटाक्ष सर कसकत उरमहँ तुम ताकूँ करकाओ ॥२॥
मदन दहत हियकूँ परि तुम नहिँ सखा समुझि समझाओ।
बहि नहिं मन्द सुगन्धित शीतल रति पतिकूँ उकसाओ ॥३॥

श्रीकृष्ण भाव में भावित वे भामिनी निरन्तर आकाश की ओर देख रही थीं। उसी समय मेघ घिर आये और वर्षा करने लगे। उन्हें लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी–

(६)

घन ! तुम यदुनन्दन के प्यारे।
नेह रोग तुम हू कूँ लाग्यो चित्त चढि गये कारे ॥१॥
करिकें प्रेम कौन सुख पायो, सबई भये दुखारे।
छिन छिन पल पल रोवत बीतत नयननि बहत पनारे ॥२॥
हमने फँसि जो जो दुख पाये सो तुम नाहिँ बिचारे।
अब भर भर आँसू बरसावत कपटी कृष्ण हमारे ॥३॥

इस प्रकार कृष्ण के भारी विरह में रोते रोते उन महिषियों को भोर हो गया। अरुणोदय में आम्र की मञ्जरी पर बैठी कोकिल अपने कमनीय कंठ से कुहू-कुहू बोलने लगी। उसकी सुमधुर वाणी सुनकर उनको भ्रम हो गया, कहीं श्रीकृष्ण ही हमें 'कहाँ हो

कहाँ हो' कहकर तो नहीं बुला रहे हैं, अतः वे चौंक पड़ीं। एक ने कोकिल को देख लिया वह उसे लक्ष्य करके कहने लगी—

(७)

कोकिल ! कुहू-कुहू का बोलत।
रसमें सनी सुधा सम बानी बोलत तरु पै डोलत ॥१॥
ऐसे ही ये श्याम निगोड़े प्रेम पिटारो खोलत।
नेह तुलामहँ हिय कूँ धरिके राग बाट तैं तोलत ॥२॥
कूजति तू कल कंठ कोकिले ! प्रियकी सुरति दिवावत।
का प्रिय करैं बहिन ! तेरो हम तव चरननि सिर नावत ॥३॥
गोविंद के गुन खग गन गावत, उड़ि उड़ि इत ई रोवत।
तू तो प्रभु के प्रेम छीर महँ मधुरव मिसिरी घोरत ॥४॥

कुछ-कुछ प्रकाश हो गया, सम्मुख रैवतक पर्वत दिखाई दिया। पर्वत शान्त भाव से अचल खड़ा था, उसे इस प्रकार बिना हिले-डुले खड़े देखकर उनमें से एक महिषी उसी को लक्ष्य करके गाने लगी—

(८)

भूधर ! प्रेम समाधि लगाओ।
नहिं डोलत नहिं बोलत बाबा आसन अचल जमाओ ॥१॥
का सोचत का चाहत तप करि अपनी साध बताओ।
अतिशय मृदुल चरन यदुवर तैं शिखरनि परसन चाओ ॥२॥
परसि प्यास नहिं बुझै बावरे मत तनकूँ ललचाओ।
प्रथम होहि सुख अनुपम अतिशय परि पीछे पछिताओ ॥३॥
हम बिललावत रोवत डोलत हरि तैं हमे मिलाओ।
वज्र समान कठिन हिय हमरे प्रभुपद तैं पिघलाओ ॥४॥

उसी समय पर्वत से निकली हुई एक सूखी टेढ़ी मेढ़ी क्षुद्र नदी दिखाई दी। उस नदी को लक्ष्य करके एक महिषी गाने लगी—

(९)

सरिता ! क्यों तव सूखत गात ।
नहिँ पय, भ्रमर, हिलोर तरङ्गहु तट मर्याद दिखात ॥१॥
दसा प्रथम फलो फूली तू सजि नजि प्रिय ढिग जात ।
अब न पदुम श्री, मीनपान, पय चन्द्रवदन कुम्हिलात ॥२॥
हमहू दुखित प्रणय सर हरि हिय घुसि पीडा पहुँचात ।
बनि दुरबल भटकति इत उत निशि दिवस कछू न सुहात ॥३॥
ज्यों तुम पति पय तें अब वचित, त्यो हमहू घबरात ।
प्रभु मुख कमल सुरति करि रोवति जग सब सून दिखात ॥४॥

उसी समय समुद्र तट से भटकता हुआ मथर गति से एक हंस इसी ओर आता हुआ दिखायी दिया। सभी ने उसे श्याम का दूत समझा। सभी अनुभव करने लगी—"सम्भव है श्याम ने इसके हाथों कुछ सुखद संदेश पठाया हो।" अतः उसे सम्बोधित करके एक महिषी गाने लगी—

(१०)

हंसा ! हरिके दूत जनाओ ?
लेकें सरस सँदेश श्यामको हमरे ढिग मत आओ ॥१॥
होहि न ताप सँदेशनि तें प्रिय, यदुवर हमहिँ मिलाओ ।
देखो, परि न जलमुही कमला सोति सग मत लाओ ॥२॥
लिपटा रहति श्याम अँगमहँ नित, ताको मुँह न दिखाओ ।
हम सब हू कछु लगें तिहारी एक बार फिरि आओ ॥३॥
जाओ जाओ यदुनन्दन ढिँग प्रिय संदेश सुनाओ ।
करवाओ प्रभु परस प्रेम तें तन की तपन बुझाओ ॥४॥

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! वे श्रीकृष्ण प्रियायें इसी प्रकार के अनेक गीत गाकर, अनेक भाव जताकर भगवान् के भारी विरह के भाव व्यक्त करने लगीं। वे निरन्तर योगेश्वरों के भी ईश्वर उन अखिलात्मा अच्युत में अपने मन को लगाये रहती थीं।

अहर्निशि उन्हीं का अनन्य प्रेमभाव से चिन्तन करती रहती थीं। इसी एक निष्ठा के कारण उन्हें अन्त में परम पद का प्राप्ति हुई। देखिये, भगवान् का विश्व विमोहक सुयश ऐसा आकर्षक है कि एक बार श्रद्धा से उसे जो सुन भी लेता है, उसी का मन हठात् उनकी ओर खिंच जाता है, क्योंकि श्रीकृष्ण का जितना चरित्र है सम्पूर्ण प्रेममय है, सरस है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का हृदय अधिक सरस होता है, इसीलिये श्रीकृष्ण लीलाओं के प्रति उनका अनुराग स्वाभाविक अधिक होता है। भगवान् का चरित्र स्त्रियों के चित्त को बलात्कार अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, जब श्रवण करने वालियों की यह दशा है, तो जिन्होंने श्यामसुन्दर के दर्शन किये हैं, वे एक दिन नहीं अनेकों वर्षों निरन्तर उन्हें देखा है। देखा ही नहीं शय्या, शयन, भोजन और गमन में जो निरन्तर साथ रही हैं, जिन्होंने पति बुद्धि से चरणवन्दन, सेवन और पादप्रक्षालन आदि कृत्य किये हैं, उन बड़भागिनियों के विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। उन्हें भगवान् के सम्मिलन में कितना सुख हुआ होगा और वियोग में कितना दुख हुआ होगा, यह वाणी तथा लेखनी का विषय नहीं। यह तो अनुभव की वस्तु है।

मुनियो! भगवान् ने गृहस्थ में ही रहकर ये ललित लीलायें कीं। लोगों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित किया कि त्रिवर्ग की प्राप्ति के लिये गृहस्थ धर्म ही परम उपयोगी है। गृहस्थ में ही रहकर धर्म, अर्थ और काम का सपादन हो सकता है। भगवान् के एक नहीं, दो नहीं, दस बीस सौ अथवा सहस्र रानियाँ नहीं, पूरा सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ थीं और वे सबकी सब श्यामसुन्दर से परम सन्तुष्ट थीं। उनसे अत्यन्त स्नेह करती थीं। उनके साथ रहकर भगवान ने लोकवत् लीलाये कीं। उन्हें इतना सुख प्रदान किया कि वे क्षण भर के लिये भी भगवान

को भुला नहीं सकती थीं। इस प्रकार मैंने यह श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् का जैसा मुझसे कुछ बन सका वैसा चरित्र कहा। मैं चन्द्रवंश का वर्णन कर रहा था। उनमें ययाति के यदु, द्रुह्यु, तुर्वसु, अनु और पुरु इन पाँचों पुत्रों का वर्णन करते-करते यदुवंश में वसुदेवजी तक आया था। वसुदेवजी की १३ पत्नियों के वंश वर्णन में देवकीजी के गर्भ से जैसे भगवान् का अवतार हुआ, इसका वर्णन किया। अब आपकी आज्ञा हो तो फिर उसी प्रकार भगवान् से आगे की वंशावली को कहूँ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वंशावली को तो हम कड़वी औषधि के घूँट की भाँति इसलिये चुपचाप पी लेते हैं कि इसका परिणाम आगे शुभ निकलेगा। इन वंशों में से ही किसी भगवद् भक्त की या भगवान् के अवतार की कथा आ जायगी। अभी हमें आप भगवान् की ही कथा सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है, महाराज! मैं यादवों का जैसे विनाश होगा, उस कथा को सुनाऊँगा। पहिले मैं अत्यन्त संक्षेप में कथा प्रसङ्ग मिलाने को कुछ यदुवंश का वर्णन कर दूँ?"

छप्पय

गावें महिषी गीत कबहुँ नहिँ श्याम भुलावें।
तिनिके भागनि इन्द्र, शंभु, अज सकल सरावें॥
जगपति कूँ पति पाइ भये तिनिके सुत दश-दश।
सबमें श्री प्रद्युम्न ज्येष्ठ जिनको व्यापो यश॥
तिनिके श्रीअनिरुद्धजी, शूरवीर वर सुत भये।
वज्र भये तिनिके तनय, यदुकुल क्षय तैं बचि गये॥

श्रीकृष्ण चरित का उपसंहार

[११६५]

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपर्षत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ६० अ० ४८ श्लोक)

छप्पय

वज्र-तनय प्रतिबाहु, सुबाहु सुत हू तिनिके ।
शान्तिसेन तिनि पुत्र भये शतसेनहु उनिके ॥
यादव कोटि असंख्य सबनिकी संख्या नाहीं ।
यों यदुकुल पुनि बढ़्यो छीन कलियुग के माहीं ॥
जब सब सुरगन, धेनु, द्विज, अधरम तैं ह्वैकें दुखित ।
हरि ढिग जामें दीन ह्वै, होहिं अवतरित तब अजित ॥

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिन्होंने केवल कथनमात्र के लिये देवकी के गर्भ से जन्म लिया है, अपने यदुश्रेष्ठ पार्षदों द्वारा सेवित हैं, जिन्होंने अपने बाहुबल से अधर्म का अन्त कर दिया। जो चराचर जगत् का दुख दूर करने वाले हैं, जो अपने मधुर मुसकानमय मुखारविन्द से व्रजवनिताओं के काम को उद्दीपन करने वाले हैं और जो समस्त जीवों के आश्रय स्थान, हैं उन भगवान् व्रजवल्लभ की जय हो जय हो।"

अनन्त कीर्ति भगवान् के नाम अनन्त है, जन्म अनन्त हैं, कर्म अनन्त हैं, चरित्र अनन्त हैं, पुत्र अनन्त हैं, कहाँ तक कहे अनन्त की सभी वस्तुएँ अनन्त हैं। प्रकृति निमित भूतों का ही अन्त नही। समुद्रो मे कितने जलकण हैं, पृथ्वी की धूलि मे कितने रजकण हैं, तेज मे कितनी किरणे हैं। आकाश मे कितने तारागण हैं, जब इनकी यथार्थ गणना नही हो सकती तब अनादि अनत अच्युत के कार्यों की गणना तो असम्भव ही है। उन भगवान् के सम्बन्ध मे जितना भी कहा जाय वही न्यून हे अथवा जो भी कहा जाय वही बहुत है। हम जन्मने और मरने वाले प्राणियो की दृष्टि मे जिसका आरम्भ है उसका अत है। भगवत्चरित्र आरम्भ किया है, तो उसका अन्त करना ही पड़ेगा।

सूतजी कहते है—"मुनियो! यदुवंश मे महाराज देवमीढ के पुत्र शूर हुए। राजा शूर की मारिषा नाम की पत्नी से दश पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें वसुदेवजी सवसे ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ थे। इन्हीं वसुदेव की छोटी पत्नी देवकी के गर्भ से भगवान् वासुदेव का अवतार हुआ। भगवान वासुदेव के सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ थीं उन सबसे दश-दश पुत्र और एक-एक कन्या का जन्म हुआ। उन सबमें रुक्मिणी आदि आठ पटरानियाँ थीं, उनकी संतति का वर्णन मैं पीछे कर चुका हूँ। इन सब एक लाख इकसठ-सहस्र अस्सी पुत्रो मे से अठारह महारथी थे। यदुकुल मे उनका बडा यश था और वे बडे शूरवीर, उदार तथा प्रसिद्ध थे। उनके नाम प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, दीप्तिमान, भानु, साम्ब, मधु, बृहद्भानु, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, देववाहु, श्रुतदेव सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि और न्यग्रोध थे। यद्यपि ये सबके सब महारथी थे किन्तु प्रद्युम्न इन सबमें श्रेष्ठ थे, बली थे, प्रभावशाली थे। अधिक क्या कहें एक प्रकार से भगवान के सदृश ही थे।"

प्रद्युम्नजी का विवाह उनकी माता रुक्मिणीजी के कहने पर उनके मामा रुक्मी की पुत्री के साथ हुआ। उसी के गर्भ से अनिरुद्धजी का जन्म हुआ। अनिरुद्धजी के सम्बन्ध में कहा जाता है, इनमें दश सहस्र हाथियों के बराबर बल था। ये भगवान् के पौत्र थे। इन्होंने भी रुक्मी की पौत्री से विवाह किया। दूसरा विवाह इनका बाणासुर की पुत्री ऊषा के साथ हुआ। बड़ी रानी के गर्भ से अनिरुद्धजी के वज्र नामक पुत्र हुए। विप्र शाप से जब यदुकुल का क्षय हो गया तब यदुवंश के बीजरूप ये वज्रजी ही अवशिष्ट रह गये थे। भगवान के स्वधाम पधारने पर द्वारावती नगरी तो समुद्र में डूब गयी थी, अतः वज्र को अर्जुन हस्तिनापुर ले आये पीछे उन्हें व्रजमंडल का राजा बना दिया। व्रजमंडल के समस्त चिह्न लोप हो गये थे। उन सबको वज्र ने ही पुनः प्रकट किया। मंदिरों का उद्धार किया, कुण्ड खुदवाये, ग्राम बसाये, भगवान् की लीला स्थलियों का प्राकट्य किया। इन वज्र के ही द्वारा यदुकुल की वृद्धि हुई।

महाराज वज्र के पुत्र प्रतिबाहु हुए। उनके सुबाहु, सुबाहु के शान्तसेन और शान्तसेन के शतसेन नामक पुत्र हुए। फिर यदुकुल में ऐसे कोई प्रसिद्ध राजा नहीं हुए। सब अल्पवीर्य और क्षीण आयु वाले हुए। शतसेन तक इस कुल में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभाव से न तो कोई दीन हीन धनहीन ही राजा हुआ न कोई अल्प सन्तान वाला ही हुआ। सभी के बहुत से पुत्र हुए। सभी दीर्घायु, बल वीर्य से युक्त तथा पराक्रमी थे। यदुवंश में सभी राजा ब्राह्मण-भक्त तथा श्रद्धालु हुए।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सभी यादव संख्या में कितने थे?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! यादवों की संख्या पूछकर क्या कीजियेगा। सब यादव तो इतने थे कि उन सबकी संख्या कोई

दश सहस्र वर्षों में भी नहीं कर सकता। वे बहुत थे, इतना ही पर्याप्त है, यदुकुल के बालकों को पढ़ाने वाले आचार्य ही हजारों लाखों थे, फिर सम्पूर्ण यादवों की संख्या कौन करे? उन सब यादवों से घिरे हुए उन सबके एकमात्र सम्राट् यादवों के अधिपति उग्रसेनजी सुधर्मा सभा में बैठे थे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इन असुरों में इतना बल पराक्रम कहाँ से आ गया?"

सूतजी बोले—"आ कहाँ से गया, भगवन्! सब उन्हीं का दिया हुआ बल है। देवासुर संग्राम में जो दैत्यगण मारे गये थे, वे ही फिर द्वापर के अन्त में मनुष्यों में उत्पन्न हो गये। वे सबके सब जन्म से ही शूरवीर, पराक्रमी तथा भगवद्द्वेषी थे। वे अहंकार में भरकर प्रजाजनों को पीड़ा देते थे। उन सब असुरों का निग्रह करने के ही निमित्त भगवान् ने यदुवंश में अवतार धारण किया। यादवों के उस समय एक शत प्रमुख कुल थे। उन सबमें श्यामसुन्दर शक्तिशाली, सर्वगुणसम्पन्न तथा सर्वमान्य थे। जो यादव भगवान् के अनुकूल थे, उनकी इच्छा के अनुसार वर्ताव करते थे, उनकी अत्यधिक वृद्धि हुई। प्रायः समस्त यादवगण, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में ऐसे दत्तचित्त रहते थे कि उन्हें असन, वसन, शयन, आसन, भ्रमण, संलाप, क्रीड़ा तथा स्नानादि कृत्यों का भी ध्यान नहीं रहता था।"

मुनियो! यदुकुल में अवतीर्ण होकर यादवेन्द्र ने अपनी अमल विमल कथा का विस्तार किया, सबको पावन बनाने वाली गंगाजी से भी बढ़कर अपनी कथा का महत्व बढ़ा दिया। भगवान् के जिसने शत्रुभाव से दर्शन किये हों या मित्रभाव से जिसने उनकी पूजा की हो या शत्रु समझकर उनके हाथों मारा गया हो, दोनों का ही सदा के लिये संसार बन्धन छूट गया। जिनके नामों का कीर्तन करने से अथवा उन सुमधुर मङ्गलमय नामों

के सुनने मात्र से ही सम्पूर्ण अमङ्गलों का नाश हो जाता है, उन सुदर्शनचक्रधारी कालरूप कृष्ण के लिये भू का भार उतारना कौन सी बड़ी बात है, यह तो साधारण-सी बात है। ऐसे यादवेन्द्र के पादपद्मों में हम पुन: पुन: प्रणाम करके उनके चारु चरित्रों को समाप्त करते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् के चरणकमलों में प्रेम कैसे हो, कृपा करके इस प्रश्न का उत्तर और दें?"

सूतजी ने कहा—"महाराज! मैं बार बार तो बतला चुका हूँ, भगवान् के चरणकमलों में प्रेम होने का एक ही सरल, सुगम, सुन्दर, सर्वोपयोगी, उत्तम उपाय है कि उन लीलाधारी श्यामसुन्दर के चारु चरित्रों का नियम से श्रवण करे, उनके नाम और गुणों का गान करे, इससे ही उसके कर्मबन्धन लुप्त हो जायँगे, वह मोक्ष का अधिकारी बन जायगा। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की कमनीय कथाओं का नित्य प्रति अधिकाधिक श्रवण करने से, उनका श्रद्धाभक्ति के साथ कीर्तन से तथा चंचलता को परित्याग करके चिन्तन करने से मनुष्य उनके परमधाम वैकुण्ठलोक को प्राप्त हो सकता है, जहाँ अति दुस्तर काल का वेग नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, दु:ख तथा क्लेश नहीं, भगवान् की प्राप्ति के सम्मुख ये राज्यपाट, धन वैभव अत्यन्त तुच्छ हैं, बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा भी जिनकी प्राप्ति के लिये सर्वस्व त्यागकर विरागी बन जाते हैं। मुनियो! उन्हें मनुष्य कथा कीर्तन द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। उनके चरित्र नाम और गुणों के गान के अतिरिक्त दूसरा उनकी प्राप्ति का कोई सुगम साधन ही नहीं। यह मैंने आपसे अति संक्षेप में भगवान् के कुछ चरित्रों की कथा कही, अब आप क्या सुनना चाहते हैं?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आपने पीछे कहा था—वज्र ब्राह्मणों के शाप से दग्ध होने से बच गया, शेष सभी यादवों का

अन्त हो गया, सो यादवों को ब्राह्मणों का शाप क्यों हुआ ? यदुकुल का क्षय किस कारण हुआ कृपा करके इस कथा को भी ता "में सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! इतनी सुन्दर सुन्दर कथायें मैंने सुनायीं, अब मुझे यदुकुल विनाश की भी दुखद कथा सुनानी पड़ेगी। महाराज ! यह कथावाचक का कार्य अत्यन्त कठोर है। इसमें वज्र का हृदय बनाकर तब कथा कही जाती है। अच्छी बात है, अब मैं आपको उस कथा का सुनाता हूँ, जिसमें यादवों के विप्र शाप की बात है। इसी प्रसङ्ग में मैं कुछ ज्ञान चर्चा करूँगा, उद्धव और भगवान श्रीकृष्णचन्द्र का दिव्य ज्ञानमय सम्वाद भी कहूँगा। आप सब इस परम पुण्यमय आख्यान को श्रद्धाभक्ति और अनुराग के साथ श्रवण करें। यह बड़ा ही गूढ विषय है।"

छप्पय

सब सारनिको सार श्याम गुन सुनें सुनावें।
ह्वैकें तन्मय सतत नाम हरि चरितनि गावें॥
सुखद सरस शुभ चरित जगत दुख दूर भगावें।
सुनत सुनत हरि कथा कृष्ण हिय माहिँ समावें॥
पावन परम चरित्र जे, नेम प्रेम तैं गायँगे।
ते पहुँचहिँ प्रभु पदनि महँ, पुण्य परम पद पायँगे।

❀ इससे आगे की कथा बावनवें खण्ड में पढ़िये ❀